भारतीय ग्रन्थमाला संख्या २

भारतीय-विद्यार्थी-विनोद



लेखक व प्रकाशक भारतीय ग्रन्थमाला के रचयिता

भगवानदास केला (माहेश्वरी)

अलीगढ़



त्रिवेणी प्रिंटिङ्ग वर्क्स, दारागंज-इलाहाबाद।



संवत् १९७५ वि०

सन् १९१८ ई०



द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

प्रिय भारतीय पाठक गण !

आपके इस 'विनोद' को प्रेम पूर्वक अपनाने के कारण यह दूसरा संस्करण जल्दी आपकी सेवा में उपस्थित है। इसमें आवश्यक संशोधन कर दिया गया है। पुस्तकान्त में भारतवर्ष सम्बन्धी कुछ उपयोगी आँकड़ों का परिशिष्ट भी जोड़ दिया गया है।

इस पुस्तक के प्रचारार्थ हम अपने अन्यान्य सुहृदों को धन्यवाद देते हुये शिक्षा विभाग बड़ौदा के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, जिसके श्रीमान् महोदय विद्याधिकारी जी ने कृपा पूर्वक इसे वहाँ के स्कूल पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत करके हमारे हिन्दी-साहित्य सेवा के उत्साह की वृद्धि की है।

लेखक

'विनोद' के इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होते समय हमें यह हर्षदायक सूचना मिली है कि मध्य प्रान्त व बरार के वर्नाक्यूलर, ऐण्डलो वर्नाक्यूलर, मिडल, हाई और नार्मल स्कूलों के पुस्तकालयों के लिये तथा विद्यार्थियों में पारितोषिक के लिये यह पुस्तक स्वीकृत हो गई है। तदर्थ हम वहाँ के डाइरैक्टर साहब को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। आशा है अन्य स्थानों के शिक्षाधिकारी भी 'विनोद' पर ऐसी ही कृपा दृष्टि कर हमें कृतार्थ करेंगे।

अस्तु, अब पुस्तक के अधिक प्रचार की आशा होने से, यद्यपि इस संस्करण में पहिले की अपेक्षा विषय की वृद्धि हुई

है एवं पृष्ठ संख्या बढ़ी है। हमने मूल्य वही रक्खा है जो कि पूर्व प्रकाशक ने रक्खा था। अब इसका प्रकाशन अधिकार हमें है। भगवान् हमारा सहायक हो।

—भगवान् दास केला

धन्यवाद

हमारे मित्र श्री पण्डित बलदेव प्रशाद जी शुक्ल, प्रयाग ने इस पुस्तक को छपाने के लिये प्रेस सम्बन्धी समस्त कार्य करने का कष्ट उठाया और पूर्व परिचित माननीय बाबू गिरिजाकुमार जी घोष ने इसके प्रूफ संशोधन करने की कृपा की है। इन महाशयों का लेखक बहुत २ आभारी है।

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

भारतीय ग्रन्थमाला की प्रथम पुस्तक (भारतीय शासन) के प्रकाशन के इतने अल्पकाल बाद ही पाठकों के कर कमलों में हमारी दूसरी पुस्तक के पहुँचने की व्यवस्था हो गई इसे हम अपना सौभाग्य ही समझते हैं। इस कार्य के नैमित्तिक कारण श्री० पं० रामजीलालजी शर्म्मा हैं जो अन्यान्य सहयोगियों सहित मातृ-भाषा की सेवा तथा विद्यार्थियों की हित-चिन्तना में लगे हुए हैं।

इस पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि इसके प्रथम भाग के लेख अपने ढंग के कुछ नवीन ही हैं। देखना है कि पाठक इस शैली की बानगी कहाँ तक पसन्द करते हैं। हाँ, यह विश्वास है कि हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की परीक्षायें भविष्य में अधिकाधिक प्रिय होती जायँगी और उनके साथ ही भिन्न भिन्न पाठ्य-विषयों की आलोचना की भी हिन्दी-प्रेमी क़दर करेंगे। इस पुस्तक के दूसरे भाग के लेखों के सम्बन्ध में हमें आशा है कि न केवल विद्यार्थी ही किन्तु अन्य पाठक भी लाभ उठावें।

इस पुस्तक के अधिकांश लेख 'महेश्वरी' (मासिक पत्र अलीगढ़) के लिए लिखे जाकर समय समय पर उसमें प्रकाशित हो गये हैं। और अब कुछ आवश्यक परिवर्तन तथा संशोधन के बाद यह संग्रह तय्यार है। इससे प्रत्येक मातृ-भाषा-प्रेमी यह शिक्षा ले सकता है कि यदि विविध सांसारिक झंझटों में निमग्न रहने के कारण उन्हें एक दम विशेष अवकाश न मिले तो थोड़ा थोड़ा काम करके भी कुछ काल के अनन्तर वे राष्ट्रीय यज्ञ के लिए अपनी अच्छी तुच्छ भेंट समर्पण करने का अवसर अवश्य ही पालेंगे। दीनबन्धु भगवान् हमारा सहायक हो।

हम हिन्दी-हितैषी, शिक्षा-प्रेमी और विद्यार्थियों के शुभचिन्तक श्रीमान् मास्टर आत्मारामजी, इन्सपेक्टर, शिक्षा-विभाग बड़ौदा को हर्षसहित-प्रकाशन पूर्वक हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने हमारी प्रार्थना पर इस पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की है।

अन्त में हम 'माहेश्वरी' प्रकाशक श्रीभागीरथदास जी भूतड़ा को आवश्यकीय लेख उद्धृत करने की अनुमति देने के लिए तथा पं० रामजीलाल शर्म्मा को ये सब लेख संग्रह करके प्रकाशित करने के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

लेखक

भूमिका

श्रीमान् बाबू भगवानदासजी केला मेरठ-निवासी के जो उत्तम लेख "माहेश्वरी" नामक हिन्दी मासिक पत्र अलीगढ़ में निकलते रहे हैं यह पुस्तक उन्हीं संग्रहरूप में माहेश्वरी के पाठकों के अतिरिक्त दूसरों के भी सामने रखने को तैयार हुई है। इस "विद्यार्थी-विनोद" पुस्तक में भाषा गणित, पदार्थ-विज्ञान, सम्पत्तिशास्त्र आदि अनेक उपयोगी विषयों पर अनेक प्रकार के विचारपूर्ण मत दर्शाये गये हैं और प्रत्येक पाठक के ऊपर किसी मतविशेष को आग्रह द्वारा बनवाने का यत्न नहीं किया गया। यह बड़ी उत्तम बात है, क्योंकि विद्या का क्षेत्र असीम है जैसा कि कहा भी गया है कि "अनन्ता वै वेदाः"

जापान-सम्बन्धी एक पुस्तक में हमने यह पढ़ा था कि वहाँ उन्नति इस शीघ्रता के साथ हो रही है कि उस ग्रन्थकर्ता को यह भय था कि मेरी पुस्तक छपने तक कई न्यूनतायें जो जापान में हैं वह निर्मूल हो जायँगी और लोग कहेंगे कि अभी की छपी हुई पुस्तक में जिन बातों का वर्णन है वह वहाँ क्यों नहीं मिलतीं ? जापान की इस विचित्र उन्नति का एक मात्र कारण उस देश की राष्ट्रीय-भाषा द्वारा शिक्षण दिया जाना ही है।

हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक के लेखक महोदय ने मातृ-भाषा द्वारा पाँच वर्ष तक शिक्षण देने के महत्त्व को खूब अनुभव करके उत्तमता से वर्णन किया है। बड़ौदा राज्य में प्रजा को पाँच वर्ष तक मुफ़्त और अनिवार्य तौर पर मातृभाषा द्वारा ही शिक्षण दिया जाता है।

राष्ट्रीय-भाषा अथवा हिन्दी की वृद्धि के लिए तथा उसके प्रचार के सम्बन्ध में उत्तमता से चर्चा इस पुस्तक में की गई है। पदार्थविज्ञान जैसे उपयोगी विषय पर पूरा ध्यान दिलाया गया है। हम इस पुस्तक में दर्शाये हुए कई मतों से सहमत न हों पर यह बात निर्विवाद है कि हिन्दी-भाषा की सेवा के लिए जो उत्तम प्रयत्न लेखक महोदय ने (जो कि अँगरेजी की उच्च शिक्षा पाये हुए हैं और जिनका उमंगी जीवन जन-सेवा के उच्च विचारों से भरा हुआ है) किया है वह प्रशंसा के योग्य है। यदि बाबू भगवानदासजी की तरह और भी युवक हिन्दी भाषा की सेवा के लिए—जो भारत माता की सच्ची सेवा है—इस प्रकार निकल आवें तो भविष्य में पश्चिम के पदार्थ विज्ञान-सम्बन्धी उत्तम उत्तम मान्य ग्रन्थों के अनुवाद और सरल व्याख्यान देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में प्रकाशित होने से निःसंदेह भारत के लिए भारी कल्याणकारी होंगे। यह उत्तम पुस्तक हिन्दी-प्रेमियों के प्रेम की पात्र बनेगी, यह हमें पूर्ण विश्वास है।

हिन्दी-प्रेमियों का एक सेवक

आत्माराम (अमृतसरी)

बड़ौदा
७-४-१६

विषय-सूची



भारतीय-विद्यार्थी-विनोद

प्रथम खंड

हमारे पाठ्य विषय

परब्रह्म परमात्मा ने इस अखिल ब्रह्मांड में जो अनेक चलाचल पदार्थ उत्पन्न किये हैं उन सबका यथार्थ ज्ञान मनुष्य के प्राप्त करने के योग्य है। सब ही 'वेद' अथवा सायंस (Science) के विषय हैं। परन्तु मनुष्य-शक्ति नियमित होने से वह सबका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने को असमर्थ है। अतएव विचारशील पुरुष चारों ओर हाथ न फैलाकर अपनी अपनी भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार एक विषय विशेष को चुन लेते हैं, और यथाशक्ति उसमें पारंगत होने का प्रयत्न करते हैं और हो भी जाते हैं। पर यह भी एक ध्यान देने की बात है कि ऐसे विद्यार्थी अन्य विषयों का एक दम तिरस्कार नहीं कर बैठते; तिरस्कार श्रेय भी नहीं। कारण कि एक विषय में निरन्तर लगे रहना रोचक नहीं होता, थोड़ी बहुत देर बाद मन ऊब जाता है; फिर मानसिक शक्तियों के यथोचित विकाश के लिए भी एक से अधिक ही विषय मनन किये जाने चाहिएं।

साधारण अनुभव बतलाता है कि पहले थोड़ा थोड़ा बोध सब मुख्य विषयों का प्राप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य इस योग्य होता है कि वह किसी एक में विशेष ज्ञान प्राप्त कर सके, कारण कि प्रत्येक विषय दूसरों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है कि किसी एक को अकेला अध्ययन करना प्रायः असम्भव है।

इस समय हमने कतिपय मुख्य मुख्य पाठ्य विषयों ही की आलोचना करने का विचार किया है। सबसे प्रथम हम भाषा पर ही कुछ लिखेंगे।

भाषा

भाषा स्वतः कोई कार्य सिद्ध नहीं करती, परन्तु किसी भी विषय के जानने के लिए यह प्रथम साधन है। सब से प्रथम इसी की आवश्यकता पड़ती है। यह ऐसी ही बात है जैसे कि रुपया क्षुधादि शान्त करने में स्वतः कुछ भी काम नहीं आता, तथापि इस के उपार्जन के हेतु ही मनुष्य दिन रात श्रम किया करता है; कारण कि यह एक द्वार है जिससे हमारी प्रायः सब आवश्यक वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं। इसी प्रकार भाषा भी ज्ञान-भंडार का द्वार है, जिस में प्रत्येक विद्या देवी के उपासक को प्रवेश करना ही पड़ता है।

(क) मातृ-भाषा

यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि मातृभाषा का बोध अल्पतर श्रम से हो जाता है और इसके सीखे पीछे दूसरी भाषाओं का सीखना भी सुगम हो जाता है। अतएव यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि बालकों को कोई अन्य भाषा सिखानी ही हो तो मातृ भाषा का भले प्रकार ज्ञान कराये पहले उसको कदापि दूसरी भाषा आरम्भ न करानी चाहिए।

हर्ष का विषय है कि इस ओर देश-शुभ-चिन्तकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। यह विचार किया जा रहा है कि पाँच वर्ष देशी भाषा में ही सब शिक्षा हो तत्पश्चात् अंगरेज़ी आदि का श्रीगणेश किया जावे। अवश्य ही इस अवधि (५ वर्ष की) को कुछ और बढ़ा देना उचित ही होगा, परन्तु अभी इसी नियम का सब स्थानों में यथोचित पालन होने लगे तो भी बहुत है। हम देखते हैं कि कितने ही स्थानों में ३ कक्षा पास किये बाद (चौथे वर्ष) ही अंगरेज़ी में खिचड़ी पकनी प्रारम्भ हो जाती है। इसका दुष्परिणाम भी छिपा नहीं है। हमारे विद्यार्थियों की बड़ी संख्या ऐसी है जो दुर्भाग्य से ७,८ वर्ष से अधिक पाठशाला में व्यतीत ही नहीं कर सकते, शिक्षणव्यय की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा जीवन-संग्राम की

चिन्ता उन्हें एक दम आ घेरती है, और उन बेचारों के पाठशाला से मुँह फेरते ही बनता है। इस बीच में अँगरेज़ी का यथोचित बोध होना तो दूर रहा उनको अपनी प्यारी मातृभाषा का भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'।

अब रहे वे विद्यार्थी जिनको १०, ११ वर्ष तक पाठशाला में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त है। इनमें से भी बहुतों को देशी भाषा के पत्रों का अर्थ ही समझने में कठिनाई प्रतीत होती है। साधारण सुगमता से वे उसका रसास्वादन नहीं कर सकते, विषय ज्ञान का तो कहना ही क्या है।

विदेशी भाषा द्वारा सिखाये जाने के कारण किसी को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता—केवल परीक्षा पास करने योग्य होता है। शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों को इस पर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करना चाहिए।

इसी सम्बन्ध में एक और भी वक्तव्य है। अत्यन्त खेद की बात है कि जो विद्यार्थी संस्कृतज्ञ होने का दम भरते हैं, उनमें से कितनों ही को शुद्ध हिन्दी लिखना पढ़ना नहीं आता और आवे भी क्यों कर? ज्यों त्यों वर्णमाला के अक्षर सीखे, लिया 'अमर कोष' हाथ में और बने वैयाकरणी! यह शोचनीय प्रथा हमारे तीर्थस्थानों के क्षेत्रों में बहुत प्रचलित है। संचालक महाशयों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना चाहिए।

(ख) अन्य भाषाएं

किसी भी एक देश के निवासी समस्त विद्या-भंडार के कोषाध्यक्ष नहीं हो सकते। इसी प्रकार कोई भी एक देश-भाषा पूर्ण ज्ञान की स्वामिनी नहीं हो सकती। हाँ, उन्नत-देश-भाषा में औरों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-सामग्री होती है। यही कारण है कि जिन महापुरुषों ने विद्या की धुन में लगे रहने का विचार किया है, उन्हें बहुधा अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और भी भाषा

स्थान के विविध आकारों (घन या पिंड, धरातल या क्षेत्र, रेखा और बिन्दु) से सम्बन्ध रखने वाली विद्या है ।

कुछ ऐतिहासिक विचार

आज बीसवीं शताब्दी में, जब कि एक बच्चा भी साधारण सौ तक गिन सकता है, यह अनुमान करना सहज है कि अङ्कगणना आदि काल से चली आयी है, परन्तु विकासवादियों के मत से ऐसा विचार ठीक नहीं है । तत्त्व-दर्शी बतलाते हैं कि सृष्टि के इतिहास में ऐसा समय बहुत काल तक रह चुका है जब मनुष्य को एक दो की कल्पना ही न हुई थी । एक गणितज्ञ अपने जीवन चरित्र के बहाने से अङ्कगणना का आरम्भ इस प्रकार लिखते हैं—

"जब मैं बाल्यावस्था में था, मैं समस्त ब्रह्मांड को—जिसे अब अनेक भागों में विभक्त समझता हूँ—एक ही समझता था, एकमेव द्वितीयो नास्ति, ऐसा मेरा अटल सिद्धान्त था, जो कुछ मुझे दीखता था, सब मेरा ही रूप था । ऐसी अवस्था कितने ही दिनों तक बनी रही, यहाँ तक कि एक दिन मेरे विचारों में एक दम परिवर्तन करनेवाली घटना उपस्थित हो गयी । मैं घुटनों के बल इधर उधर फिर रहा था कि एक वृक्ष से मेरा सिर टकराया और मेरे विचारों ने तुरन्त चक्कर खाया । टकरानेवाली वस्तु मेरे शरीर से अवश्य भिन्न है, ऐसा मैं सोचने लगा और थोड़ी देर में मुझे एक से दो का ज्ञान हो गया" ।

कुछ आश्चर्य नहीं कि अङ्कों की ज्ञान-प्राप्ति के लिए सृष्टि की शै वावस्था में मानव जाति को एक क्या अनेक टक्करें लगी हों । अस्तु, पहले मनुष्य की विचार-शक्ति ही इतनी प्रबल न थी कि कई पदार्थों को एक ही समय में कल्पना कर सकती । जहाँ दो तीन चीज़ें सामने आयीं, उसने झट उन्हें अनेक वचन, बहुवचन, इत्यादि संज्ञाएँ देनी शुरू कीं ।

पीछे धीरे धीरे बुद्धि-विकास होता गया। अँगुलियों के सहारे आगे की संख्या गिनने की व्यवस्था की गयी। अधिकांश प्रचलित भाषाओं में पाँच और पंजा (हाथ) एक ही शब्द से निकले हुए हैं। दस के लिए दोनों हाथों का संकेत किया जाता था। अधिक पदार्थों के गिनने के लिए दूसरे मनुष्य के हाथ की अँगुलियों की आवश्यकता होती है। इसलिए ग्यारह, बारह, तेरह के अंकों में क्रमशः ११, १२, १३ लिखा जाता है, इनमें बाँई ओर का '१' पहले मनुष्य की दस अंगुलियों का प्रतिनिधि है और दाँई ओर के १, २, ३ दूसरे मनुष्य की एक दो तीन अँगुलियों के द्योतक हैं। इसी प्रकार सौ, हज़ार, दस हज़ार, लाख इत्यादि तक यह क्रम बढ़ाया जाता है और केवल नौ अंकों (अर्थात् १, २, ३, ४ आदि) और एक शून्य (०) से गिनती का सब काम चल जाता है।

यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि गणना की उपर्युक्त 'दशमिक प्रणाली' सबसे प्रथम भारतवर्ष ने ही निश्चित की थी; पीछे यहाँ से अरब तथा वहाँ से अन्य पाश्चात्य देशों में प्रचलित हुई। इतिहासकारों के मत से अनेक स्थानों में बहुत समय ऐसा रह चुका है जब कि यह प्रणाली प्रचलित न थी, प्रत्येक संख्या के लिए भिन्न भिन्न अङ्क ठहराये हुए थे और (०) से कुछ काम न लिया जाता था। उस स्थिति में गणित का कार्य आजकल की अपेक्षा कितना परिमित एवं जटिलतापूर्ण था सो बतलाने की कुछ आवश्यकता नहीं। फिर इन वर्तमान नौ अङ्कों का सदैव एक रूप रहा हो सो भी नहीं। तत्त्ववेत्ताओं ने खोज करके यह प्रमाणित किया है कि अङ्कों में से प्रत्येक के पहले कई कई स्वरूप रह चुके हैं, एवं मनुष्य के सौन्दर्यप्रेम और शीघ्रता के इच्छानुसार इन्हें समय समय पर नवीन रूप धारण करना पड़ा है।

जिन विद्यार्थियों को इस विषय पर अधिक जानने की अभिलाषा हो, वे कोई गणित का इतिहास देखकर तृष्णा शान्त कर सकते हैं।

गणितीय शाखाओं का भारत में आविष्कार

यह बात अब स्वयं सिद्ध हो गयी है कि हिन्दुओं की आरम्भ से ही धर्म में रुचि रही है, इसलिए उन्होंने उन उन विषयों की खोज करना भी अपना कर्तव्य समझा जिनका कि धर्म से सम्बन्ध था। जब आर्य लोगों को यज्ञ करने के लिए समय को निश्चित करने एवं अन्य धार्मिक क्रियाओं के लिए पंचांग बनाने की आवश्यकता पड़ी, तब उन्होंने सूर्य्य चन्द्रमादि ग्रह-नक्षत्रों की चाल की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र का आविष्कार हुआ, जिसका वेदों में भली भाँति उल्लेख मिलता है। ज्योतिष में गणना की आवश्यकता होने से उन्होंने अङ्कगणित निकाला। फिर वेदियाँ बनाने में उन्हें रेखागणित की ज़रूरत पड़ी, क्योंकि एक ही क्षेत्र-फलवाली भिन्न भिन्न आकार की और दो वर्गक्षेत्रों के जोड़ के समान एक विशेष आकार की वेदि बिना रेखागणित के विशेष ज्ञान के नहीं बनायी जा सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्योतिष, अङ्कगणित और रेखागणित का आविष्कार स्वयं भारतवासियों ने सब से प्रथम किया, इसके लिए समस्त संसार भारत का ऋणी है। यह दूसरी बात है कि पीछे यूनान आदि देशों ने रेखागणित को उन्नति पर पहुँचा दिया, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं कि भारतवर्ष को यूनान ने यह विद्या सिखायी है। और यह बात अनेकांश में सभी तत्त्ववेत्ता मुक्तकंठ से स्वीकार भी करते हैं।

केवल बीजगणित के विषय में कतिपय विद्वानों का ऐसा कथन है कि यह प्रथम अरबवालों ने आविष्कृत किया। परन्तु इसके खंडन के लिए भी सहज ही सबल प्रमाण मिल जाते हैं। मुहम्मद साहब का समय सन् ५७०—६२२ ई० तक रहा है। उनसे पहले तो अरबवाले निपट गँवार थे ही। उनके ही जीवनकाल में अथवा उनके देहान्त के पश्चात् भी शीघ्र ही उनके शिष्य विद्या-सम्बन्धी खोज में लग गये हों, यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि यह मान भी

लिया जावे तो भी अरव वालों ने जल्दी से जल्दी सातवीं शताब्दी में बीजगणित के तत्त्वों के पहचाना होगा। इधर भारत में हम देखते हैं कि वराहमिहिर ने, जो सम्राट् विक्रमादित्य के नवरत्नों में से था, अपने ज्योतिष ग्रन्थों में बीजगणित के सिद्धान्तों से काम लिया है, जिससे सिद्ध हुआ कि बीजगणित का आविष्कार सम्राट् विक्रमादित्य से पहले हो चुका था, जिनका समय हम ईसा से ५७ वर्ष पूर्व का मानते हैं। परन्तु यदि पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान ही सत्य समझा जावे और उक्त सम्राट् का पाँचवीं शताब्दी में होना मानें, तो भी यह तो सिद्ध हो ही गया कि वराह-मिहिर ने उस समय बीजगणित के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जब मोहम्मदी धर्म आरम्भ ही नहीं हुआ था। बात असल में यह मालूम होती है कि बीजगणित का भी प्रथमतः आविष्कार तो (गणित की अन्य शाखाओं की भाँति) किया हिन्दुओं ने ही। परन्तु अरववालों ने यहाँ से लेकर इसका यूनान में और यूनान से इसका अन्य योरपीय देशों में प्रचार किया और योरपीय विद्वानों की यह समझ हो गयी कि अरववालों ने ही इस विद्या की प्रथम खोज की है।

काल-निर्णय

यह प्रमाणित हो जाने पर कि आर्य हिन्दुओं ने ही गणित की सब शाखाओं का आविष्कार किया, अब यह निश्चय करना है कि इन्होंने इन विद्याओं की खोज कब आरम्भ की। हम कह चुके हैं कि इनका वेदों में उल्लेख मिलता है। बस, सिद्ध हुआ कि वैदिक काल में ही इनका आविष्कार हुआ। अब प्रश्न होता है कि 'वैदिक काल' क्या है, सो इस विषय पर अभी तक तो विद्वान् सहमत नहीं हुए। जिनके विचार से सृष्टि की ही आयु पाँच सात हज़ार वर्ष है, उनकी नज़र वैदिक काल के निश्चित करने के लिए इस

सीमा के अन्दर रहनी स्वाभाविक है। इधर हिन्दू लोग वैदिक सँवत् दो अरब के लगभग समझते हैं। अस्तु, धीरे धीरे विज्ञान इस विषय पर प्रकाश डालेगा कि सृष्टि की आयु क्या है, तब वैदिक काल का (जिस पर कि हिन्दुओं की गणित की खोज का समय अवलम्बित है) भी कुछ ठीक निर्णय होगा।

गणित की आवश्यकता

गणित दिन रात की व्यावहारिक विद्या है। इससे प्रत्येक सामाजिक मनुष्य को काम पड़ता है। इसके कुछ अंश जाने विना जीवन-निर्वाह ही में बड़ी अड़चन रहती है, इसलिए इसकी सब को आवश्यकता है।

जिन विद्यार्थियों को गणित की धुन लग जाती है, उनको इसके सामने कुछ अच्छा नहीं लगता। मि० न्यूटन तो गणित की समस्याओं को हल करते करते भोजन की ही सुध बुध भूल जाते थे। और हमारे मान० तिलक महोदय का कथन है कि गणित कविता के समान सरस है। इससे केवल आनन्द ही नहीं प्राप्त होता किन्तु बुद्धि-विकाश भी होता है। यहाँ तक कि यूनानी हकीम प्लेटो ने अपनी पाठशाला के द्वार पर यह लिख कर लगा दिया था कि "जिसको ज्यामिति (जो तत्कालीन यूनान का गणित का एक मात्र विषय था) न आती हो वह अन्दर प्रवेश न करे", कारण कि उनका विचार था कि गणित न जाननेवाला मनुष्य विचारशक्ति से शून्य एवं पशु सरीखा होगा। और इसमें सन्देह भी नहीं है कि गणित के अभ्यास से मनुष्य की स्मरण-शक्ति बढ़ती है, निरीक्षण, मिलान और निर्णय करने की आदत पड़ती है, स्वयं शुद्ध तर्क करने, और दूसरों की अशुद्ध तर्कना में त्रुटियाँ निकालने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है और इन सब बातों का चरित्र-सुधार में थोड़ा प्रभाव नहीं पड़ता।

गणित की शिक्षा

बालकों को गिनने का बहुत चाव रहता है। भाषा-शिक्षा के साथ ही अङ्कगणना आरंभ करा देनी चाहिए। पहले पहल सरल सुबोध प्रश्नों से प्रारम्भ कराके धीरे धीरे आगे बढ़ना चाहिए, जिससे बालक को एकदम कठिनता न मालूम हो, और ६,७ वर्ष में [क] अङ्कगणित के साधारण सब नियम, [ख] कुछ क्षेत्रमिति [ग] कुछ थोड़ा सा बीजगणित सबको सिखाया जाना चाहिए।

पश्चात् जिनकी इच्छा और रुचि हो वे गणित की उच्चशिक्षा प्राप्त करें। उच्च शिक्षा साधारण व्यवहार में काम न आकर ज्योतिष तथा पदार्थविज्ञान में फलदायक होती है। कहा जाता है कि भारतवासियों ने जो प्राचीन समय में गणित की खोज की थी सो ज्योतिष के लिए ही की थी।

गणित की पुस्तकें

हमने ऊपर कहा है कि भारतवासियों द्वारा गणित की भिन्न भिन्न शाखाओं का आविष्कार तो हुआ ही, साथ ही उन्होंने कई एक शाखाओं को अच्छी उन्नति पर पहुँचाया; इसके अत्युत्तम साक्षी इन विषयों के उपलब्ध ग्रन्थ हैं। जब तक वराहमिहिरजी की बृहत् संहिता, पञ्चसिद्धान्तिका, कालिदासजी का ज्योतिर्विदाभरण, आर्य्यभट्टजी का आर्यभटीय ग्रन्थ, ब्रह्म भट्टजी का ब्रह्म स्फुट ग्रन्थ, भास्कराचार्यजी का सिद्धान्तशिरोमणि इत्यादि अमूल्य रत्न विद्यामान हैं, गणित आविष्कार में संसार के समस्त देशों में भारत का नम्बर अव्वल रहेगा। और अभी न मालूम कितने ग्रन्थ और भी खोज करने से मिल सकते हैं। विद्या-प्रेमियों को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी ज़रूरत है कि नवीन ग्रन्थों की रचना का क्रम बराबर चलता रहे। जिस तरह आज हम अपने पूर्वजों के कृत्यों का अभिमान

कर सकते हैं, हमें चाहिए कि हम भी ऐसे उद्योगी बनें कि हमारे वंशजों को हमारा अभिमान करने का सुअवसर मिले ।

विज्ञान

विज्ञान की साधारण परिभाषा है, किसी विषय का यथाक्रम नियमानुसार ज्ञान प्राप्त करना । आम बोलचाल में इस शब्द का अर्थ प्रायः संकुचित होकर केवल पदार्थविज्ञान का बोधक होता है। इसके अनेक भेद हैं । यथा—रसायन, प्रकृति-विद्या, भौतिक विद्या, यंत्रविद्या, भूगर्भविद्या, खनिजविद्या इत्यादि ।

भारतवर्ष में विज्ञान की आवश्यकता

सोचने की बात है कि आज दिन योरप के देश क्यों इतने बढ़े चढ़े हैं । इँगलैंड और जर्मनी पर ही क्यों लक्ष्मी जी की विशेष कृपा बनी है ? अमेरिका-निवासी क्यों मज़े उड़ा रहे हैं, तथा जापान में उन्नति-सूर्य क्यों उगता नज़र आ रहा है । बेचारे भारतवासियों ने ही क्या अपराध किया है कि जो साल दर साल लक्ष्मीजी की पूजा करते रहने पर भी ये इस चंचल देवी के कृपा-पात्र नहीं बनते ? न मालूम कितनों को पेट भर अन्न ही नहीं मिलता, और कितनों को पालन-पोषण की चिन्ता में ही अपना तमाम समय बिता देना होता है, फिर मानसिक उन्नति का तो ज़िक्र ही कहां ?

प्रिय पाठकगण ! व्यग्र होने की कुछ बात नहीं है। भारतवर्ष पर ईश्वरीय कोप भी नहीं है, प्रकृति सबको समान दृष्टि से देखती है । उपर्युक्त समस्या का उत्तर अधिकांश में यह है कि इस वर्तमान कर्मप्रधान युग में विज्ञान की सेवा बिना लक्ष्मी देवी प्रसन्न नहीं होती । जो देश, जो जाति, जो राष्ट्र अब विज्ञान का समुचित स्वागत नहीं करता, निस्संदेह समझो कि वह अपने हाथों बुरे दिनों का आवाहन कर रहा है । कहावत है 'व्यापारे

बसते लक्ष्मीस्तदर्ध कृषिकर्म्मणि'—परन्तु जहाँ विज्ञान का यथोचित प्रचार नहीं है, जनसमाज उससे लाभ उठाना नहीं जानता, वहाँ का व्यापार क्या है केवल दल्लाली है, और कृषि क्या है व्यर्थ का पसीना बहाना है। इस विचार से हमें 'विज्ञाने वसते लक्ष्मीः' उक्ति अधिक सत्यतापूर्ण प्रतीत होती है।

यह ज़माना कला-कौशल का है। मशीन, यंत्र, कलों की बन आयी है। यदि इनका आविष्कार न हो तो कम से कम उपयोग का तो घाटा न रहना चाहिए। किन्हीं कारणों से कहो, भारत का सम्बन्ध उन पाश्चात्य देशों से हो गया है जो पदार्थविज्ञान के लिए भरपूर आन्दोलन कर रहे हैं। उनके सम्मुख खड़े रहने का साहस प्राप्त करना यदि वाञ्छनीय है तो अवश्य विज्ञान का आसरा लेना ही होगा।

विज्ञान का महत्त्व

बाबू द्वारकानाथ जो मैत्र के शब्दों में* हम कह सकते हैं कि विज्ञान प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों को बतलाने की कुञ्जी है। माया के आवरण को मुक्त करने तथा किसी वस्तु के वास्तविक रूप और गुण के जानने के लिए गुरु स्वरूप है और प्राकृतिक निहित तत्त्वों के उद्घाटन करने में गुप्त चर है। विज्ञान कल्पतरु है इससे जो वस्तु माँगिएगा वही पाइएगा। धैर्य, निरन्तर श्रम और दृढ़ता की आवश्यकता है। सच है, 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ'। यह वह शक्ति है जिससे प्रकृति देवी अनायास ही आयत्त हो जाती है और अर्द्धाङ्गिनी की तरह आज्ञापालन करने के लिए उत्सुक रहती है। दशों दिक्पाल मानों विज्ञान के सामने हाथ जोड़े खड़े हों। जल पर तो आधिपत्य जमाये बहुत दिन हुए। समुद्र देवता की क्या ताब कि चूँ तक कर सके। उनके

*"विज्ञान-शिक्षा और हिन्दी में उसकी आवश्यकता"

वक्षःस्थल पर से लाखों पोत आते जाते रहते हैं। थल का कहना ही क्या है, पृथ्वी बेचारी को जैसा नाच नचाओ वह वैसा ही नाचने को प्रस्तुत है। वायु को भी अब वश में कर लिया है। बहुत दिनों से टालमटोल और युद्ध करने के पश्चात् वायु ने भी हार मानकर विज्ञान से सन्धि कर ली है। रूम और इटाली के युद्ध ने दिखला दिया है कि युद्धस्थल तक में हवाई जहाज़ का उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रदेव ने परास्त होकर अपना वज्रदंड विज्ञान को सौंप दिया है जिसके प्रभाव से तार इत्यादि का काम बेधड़क चल रहा है। साइंस! बलिहारी है तेरी महिमा की! असम्भव को सम्भव कर दिखाना तेरा ही काम है। जड़-पदार्थ का समूह मनुष्य की सी बातें करे। यह तेरे ही प्रताप का फल है कि बिना तार या बिना किसी लगाव के हज़ारों मीलों की बातें चुटकी बजाते ज्ञात हो जाती हैं। पृथ्वी पर की घटना की कौन कहे, ताराओं तक के समाचार मनुष्य के ज्ञानगोचर करा रही है।"

विज्ञान से लाभ

१—इसकी सहायता से कृषि, शिल्प आदि की उन्नति होकर जीवन-निर्वाह थोड़े श्रम तथा थोड़े समय में हो जाता है, और शेष शक्ति और समय मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के वास्ते लगाया जा सकता है।

२—विविध प्रश्नों का उत्तर मालूम करने से बुद्धि का विकास होता है।

३—काल्पनिक भय [बिजुली आदि शक्तियों का और भूत प्रेतादि आत्माओं का] रफूचक्कर होता है।

४—शताब्दियों के अन्ध विश्वासों को दूर करने का सामर्थ्य विज्ञान को ही है।

विज्ञान पर दोषारोपण

कतिपय अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित पुरुष कहा करते हैं कि विज्ञान लोगों को नास्तिक बना देता है। हम स्वीकार करते हैं कि

यदि आस्तिकता इसी में है कि जिस शक्ति का पता लगा और जो पदार्थ सामने आया उसी की पूजा करने लगना, तो अवश्य विज्ञान नास्तिकता का प्रचार करता है। पर असल बात तो यह है कि न आस्तिकता का अर्थ उपर्युक्त रीति से किया जाता है और न विज्ञान नास्तिकता फैलाता है।

यह भी कहा जाता है कि "पाश्चात्य देश इस विज्ञान के ही सहारे तो युद्ध और मनुष्य-संहार की सामग्री तय्यार करते हैं। फिर इसकी प्रशंसा के इतने पुल क्यों बांधे जावें"? अवश्य यह सत्य है कि वे देश समय समय पर विज्ञान का दुरुपयोग करते नज़र आया करते हैं, परन्तु ध्यान रहे कि इससे दोषभागी वे देश ही बनते हैं। विज्ञान के मत्थे कलङ्क नहीं मढ़ा जाना चाहिए। एक विज्ञान ही क्या, किसी भी प्रकार का गुण क्यों न हो, मनुष्य चाहे तो उसे सदुपयोग में ला सकता है और चाहे तो उसका दुरुपयोग कर सकता है। जिस प्रकार, यदि कोई आदमी तलवार का भय दिखाकर किसी का धन लूट लेवे तो इसमें तलवार का दोष नहीं, क्योंकि वह तो आत्म-रक्षा का साधन है। इसी प्रकार विज्ञान द्वारा किसी को हानि पहुँचाने से वह भी दोष का भागी नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश सुख-शान्ति प्रदान करना है। असल बात यह है कि जो शक्ति उपकार करने में समर्थ है, वह अहित भी कर सकेगी। हमारी बुद्धि इसी बात में है कि उसका सदुपयोग करें और लाभ उठावें।

वैज्ञानिक रहस्य

विज्ञान के कौन कौन सिद्धान्त अभी तक विदित हुए हैं तथा उनसे मानव जाति का क्या क्या उपकार हुआ है, यह विषय बड़े ग्रन्थों का है। हमें अब इतना ही देखना है कि विज्ञान का मूल तत्त्व क्या है। विज्ञान-पारंगत बतलाते हैं कि हमारी आँखों के सामने जो अनेक घटनायें आयेदिन होती रहती हैं उनमें "क्यों?" तथा

"किस प्रकार" का प्रामाणिक एवं तर्क-संगत, उत्तर माँगना ही विज्ञान का जीवन है। इनमें से 'क्यों' का उत्तर अनेकशः नहीं भी मिलता, पर 'किस प्रकार' का उत्तर बहुत दूर तक मिलना शक्य है। बिजली, भाप, वायु, जल, गर्मी आदि की विविध शक्तियाँ क्या काम कर सकती हैं? किस प्रकार मनुष्य जाति की शासक न होकर ये आज्ञाकारी सेवक बनायी जा सकती हैं? यह सब जानना विज्ञान के अन्तर्गत है। जो अनेक प्रश्न मन में उठें उनको दबाया जाकर, उनका समुचित उत्तर ढूँढ़ना ही वैज्ञानिक रहस्य है।

विज्ञान की शिक्षा

आरम्भ में कोई स्थूल परिचित पदार्थ बालकों के सामने रख कर उसका ज्ञान प्राप्त करना श्रेय है; लम्बाई, चौड़ाई, रूप, रस गंध, आदि की जानकारी भले प्रकार कराई जानी चाहिए। साथ ही विद्यार्थियों के घट में यह बात उतारनी चाहिए कि प्रत्येक विषय प्रत्यक्ष परीक्षा करके देखना है, ज्यों ज्यों विद्यार्थी की बुद्धि बढ़ती जावेगी वह कठिनतर विषयों की ओर रुचि प्रकट करेगी। उनके समझाने के लिए बड़े बड़े यन्त्रों की भी आवश्यकता पड़ेगी। भाषाशिक्षा प्राप्त करने पर छात्र पुस्तकों से स्वयं बहुत सहायता ले सकते हैं।

स्मरण रहे कि बालक बाह्य पदार्थों के जानने के लिए सदैव उत्सुक रहता है और नाना प्रकार के प्रश्न किया करता है। उसके प्रश्नों के उत्तर सरलता और सुगमतापूर्वक न देने तथा पदार्थों के नाम, गुण, प्रयोग, विधि और लाभादि न बतलाने से माता पिता तथा आचार्यादि बड़े दोष के भागी बनते हैं। क्योंकि उसकी जिज्ञासा-शक्ति को हनन करना मानो उसे विज्ञान-शिक्षा से वंचित रखना तथा उसे मनुष्यता से गिरा देना है।

विज्ञान-साहित्य

हम पहले दिखा आये हैं कि हमारे भारतीय भाइयों ने अभी तक विज्ञान का यथेष्ट स्वागत नहीं किया। बस इस विषय के साहित्य का बहुत अभाव होना स्वाभाविक ही है। ख़ैर, अब वह सौभाग्य की ही बात है कि जहाँ हिन्दीभाषा के अन्य अंगों की पूर्ति का उद्योग हो रहा है, कुछ कर्मवीरों ने विज्ञान-साहित्य पूर्ण करने का बीड़ा उठाया है। प्रयाग में एक विज्ञान-परिषद् बन गई है, जिसकी ओर से इस विषय का एक मासिकपत्र भी निकल रहा है। उक्त समिति ने 'विज्ञान प्रवेशिका' और 'ताप' नामक दो पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं और आशा बँधाई है कि और ग्रन्थ भी क्रमशः प्रकाशित होते रहेंगे। कहना नहीं होगा कि समिति का उद्देश प्रशंसनीय है।

परमात्मा करे, हमारा देश शीघ्र विज्ञान-ज्ञान से भूषित हो, समृद्धिशाली बने।

भूगोल

व्याख्या

भूगोल वह विद्या है जो पृथ्वी सम्बन्धी विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराती है। किसी स्थान की भूमि तथा जल-वायु कैसे हैं, वहां का क्षेत्रफल और मनुष्य संख्या क्या है, वहां पर विशेष-तया क्या क्या पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तिजारत (व्यापार) किन चीज़ों में होती है—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देनेवाली यही विद्या है। इस विद्या के अध्ययन करते समय यह भी विचार करना उचित है कि किसी भूमि का असर वहां के निवासियों पर क्या पड़ा एवं उन निवासियों ने देश की प्राकृतिक स्थिति में क्या उन्नति की। यदि किसी नगर के आदमी भूखे रहते हैं तो उनके आलस्य का

फल है अथवा प्रकृति की डाली हुई रुकावटों का? ऐसी समस्याओं को भी हम भूगोल का ज्ञान प्राप्त किये बिना हल नहीं कर सकते। यह (भूगोल) इतिहास एवं राष्ट्रनिर्माण करनेवाली शक्तियें में से भी एक है, यह हमें कदापि न भूलना चाहिए।

भूगोल की आवश्यकता

ज्यों ज्यों हमारा सम्बन्ध बाहरी दुनिया से बढ़ता जाता है त्यों त्यों हमें भूगोल की अधिक अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। जब तक किसी व्यक्ति की सब आवश्यकताएँ घर में ही पूरी हो जाती हैं, वह बाहर नहीं जाता; इसी प्रकार किसी समाज के सब सुख-समृद्धि के साधन जब एक ही देश में मिल सकते हैं, तब उन्हें अन्य देशों का समाचार जानने की इतनी उत्सुकता नहीं रहती। वर्तमान समय में स्थिति ऐसी हो गयी है और होती जाती है कि प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष यह जानना चाहता है कि संसार भर के भिन्न भिन्न स्थानों में क्या क्या हो रहा है। दुनिया मनुष्य के विचार का केन्द्र हो गयी है, इसी लिए उसको सब देशों की साधारण भौगोलिक स्थिति जानने की आवश्यकता होती है। फिर अपने देश का तो कहना ही क्या? यह तो सबकी (जिन्होंने यह समझ लिया है कि परमात्मा ने उनको किसी कार्यविशेष के लिए मनुष्य-जन्म देकर इस भूलोक में भेजा है) कर्तव्य-भूमि ही ठहरी।

यद्यपि अभी तक यहाँ जन-साधारण को भूगोल सम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं है, पर इसमें संदेह नहीं कि इन दिनों भारतवासियों के बाहर—इँगलैंड, जरमनी, अमरीका और अफ़रीका में—जाने से यहाँ पर उक्त देशों के सम्बन्ध में समाचार जानने की रुचि बढ़ती जा रही है। यह जानना आवश्यक ही है कि जिन देशों से हमारा सम्बन्ध है उनकी दशा कैसी है, वहाँ जाने से क्या लाभ होता है अथवा क्या क्या दिक़्क़तें पेश आती हैं। यदि हम यह न जानेंगे तो बहुत हानि उठानी होगी।

मल्लाहों, योद्धाओं, धर्म्मप्रचारकों और यात्रियों को तो इस विद्या की आवश्यकता पड़ती ही है, पर साधारण ज्ञान सबको होना चाहिए।

व्यापारिक दृष्टि से भी भूगोल से अनेक लाभ हैं। कल्पना करो कि हमारे देश के एक प्रान्त में अकाल पड़ा हुआ है। अब यदि हमें यह विदित हो कि हमारे पास के ही किसी दूसरे प्रान्त में फसल अच्छी हुई है तो हम वहाँ से खाद्य पदार्थ अपने प्रान्त में लाकर दुर्भिक्षपीड़ित भाइयों का कष्ट निवारण कर सकते हैं। फिर यदि कोई पदार्थ दूसरे देश में हमारे देश की अपेक्षा अधिक सुगमता से प्राप्त हो सकता है तो वहाँ की भौगोलिक स्थिति जानने से हम उस पदार्थ की अधिक उत्पत्ति के लिए अपने देश में प्रयत्न कर सकते हैं।

राष्ट्रीय दृष्टि से भूगोल का महत्व

सौभाग्य से इन दिनों यहाँ राष्ट्र निर्म्माण* की ध्वनि कर्णगोचर हो रही है, इसके लिए आवश्यक है कि हम इस बात को सदैव ध्यान में रखें–"भारतवर्ष हमारा-मित्रो! हम हैं भारतवर्ष के"। पूज्यपाद श्रीस्वामी रामतीर्थ जी के शब्दों में भारतवर्ष वह शरीर है कि जिसके चरण सुदृढ़ कैमोरिन हैं, हिमाचल जिसका उच्च सिर है, परमपावनी जान्हवी और ब्रह्मपुत्र जिसके मस्तक से निकले हैं, विन्ध्याचल जिसकी कमर में बंधा हुआ कमरबन्द है, कोरोमंडल और मालाबार जिसकी दाहिनी व बाईं टांगें (पैर) हैं, पूर्वी पश्चिमी दिशायें जिसकी दाईं व बाईं भुजाएँ हैं जो सब मानव जाति को आलिङ्गन करने को फैली हैं। ३१ कोटि भारतवासी सबही इसकी प्यारी संतान हैं। प्रत्येक देश व समाजसेवी को अपने अपने प्रान्तसम्बन्धी संकुचित विचारों में ही निमग्न न रह

* लेखक की 'भारतीय राष्ट्र-निम्र्माण' पुस्तक छपकर तय्यार है। उसे विचारिये। मूल्य केवल दस आने हैं

कर इस बात को सदैव स्मरण रखना तथा अपने अन्य भाइयों के हृदय में जमा देना चाहिए कि भारतवर्ष देश-समूह नहीं वरन् एक ही देश है और यह यथेष्ट भूगोल-ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतएव भूगोल-ज्ञान राष्ट्र-निर्माण की एक आवश्यक सीढ़ी है।

भूगोल की शिक्षा तथा उसके साधन

विद्यार्थी को पहिले यथाक्रम उसके गाँव (कस्बे या शहर), ज़िले या प्रान्त का भूगोल सिखाया जाना चाहिए क्योंकि इसी क्रम से उसकी आवश्यकता बढ़ती है और वह सीख भी सकता है। तत्पश्चात् देश का भूगोल भले प्रकार और अन्त में दुनिया का साधारण भूगोल सबको ही सीखना चाहिए।

व्यापार-पेशा लोगों को व्यापारिक भूगोल की विशेष आवश्यकता होगी।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है—यद्यपि पाठक और शिक्षक दोनों ही कभी कभी भूल जाते हैं—कि भूगोल की शिक्षा के समय मानचित्र (नक़्शा) सदैव सामने रखना चाहिए।

भूगोल की पुस्तक और ऐटलस (नक़्शों की किताब) इस विद्या के सीखने के लिए साधारण तथा यथेष्ट साधन हैं। पर निज अनुभव के लिए बाहर यात्रा करना आवश्यक है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने तीर्थयात्रा को शास्त्र-विहित माना है।

गत शताब्दियों के अन्धकारमय युग से विदेशयात्रा करने में बहुत ही धार्मिक रुकावटें डाल दी गयी हैं। आशा है कि ज्यों ज्यों समाज शिक्षित होता जायगा, यह पूर्वजों की कीर्त्ति का स्मरण होता रहेगा, ऐसी निरर्थक अड़चनें हट जायँगी।

इतिहास

व्याख्या

इतिहास की व्याख्या करते समय भिन्न भिन्न लेखकों ने इस विषय को पृथक् पृथक् दृष्टि से देखा है। उनका कथन सत्यता

का एक अंश प्रकट करता है। एक महाशय का लेख है कि "इतिहास" किसी जाति का रोज़नामचा है। दूसरे कहते हैं कि इतिहास में समय के प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यक्तियों के चरित्र क्रमबद्ध रहते हैं। तीसरे कहते हैं कि इतिहास में किसी समय की प्रसिद्ध प्रसिद्ध लड़ाइयाँ, उनके कारण और परिणाम लिखे रहते हैं। इस देश में प्रायः विद्यार्थी विविध घटनाओं की तारीखें ही घोखते रहते हैं, जिससे यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि केवल राज्य-सम्बन्धी उल्लेखनीय घटनाओं का क्रमबद्ध संग्रह करना ही इतिहास का कार्य है। परन्तु असल में राजनैतिक इतिहास भी किसी देश या जाति के इतिहास का एक अंशमात्र है और इतिहास का तात्पर्य यह है कि सच्ची घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन और उनसे यथोचित तर्कसंगत शिक्षा का ज्ञान होना। इतिहास के मुख्य विभाग चार है :—(१) धार्मिक, (२) राजनैतिक, (३) साहित्यिक तथा वैज्ञानिक, (४) सामाजिक। इन चार प्रकार के आन्दोलन ही का विषय इतिहास में रहता हैं।

भारतवर्ष का इतिहास

भारतवर्ष के विषय में जहाँ एक पक्ष के लोग कहते हैं कि यहाँ प्राचीन इतिहास नहीं मिलता, और संग्रह करके लिखना होगा, दूसरा दल यह कहने में संकोच नहीं करता कि आर्यजाति ने इतिहास का महत्त्व पहले ही समझ लिया था जैसा कि "इतिहासः पंचमोवेदः" की उक्ति से सूचित है, और रामायण, महाभारत आदि अन्य इतिहास ही तो हैं। परन्तु स्मरण रहे कि इतिहास सदैव सरल और सीधी भाषा में ही होना चाहिए। उसमें अत्युक्ति, अलंकार तथा विस्तार की आवश्यकता नहीं कि जो कविता के शृङ्गार माने जाते हैं। इस विचार से तो यही कहना होगा कि हमें उन ग्रन्थों से ही संतोष न कर उनसे उचित विषय संग्रह कर तथा उसमें आवश्यकतानुसार घटा बढ़ी करके इति-

हास लिखना हाेगा । हर्ष की बात है कि संप्रति देश के विद्वानाें का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है ।

भारतवर्ष में इतिहास की जाे पाठ्य-पुस्तकें हैं वे प्रायः अन्य देशवासियाें की लिखी हुई हैं । अन्य देशवासी कभी भी किसी जाति का इतिहास बिलकुल निष्पक्ष हाेकर नहीं लिख सकते । क्योंकि यह बात स्वाभाविक है कि उनकी हमारे देश के लिए उतनी श्रद्धा और सहानुभूति कभी नहीं हाे सकती जितनी कि हाेनी चाहिए । क्या इंगलैण्ड का जातीय इतिहास फ्रांसवासियाें से लिखा गया है ? कदापि नहीं । विचारने की बात है कि जब पहले नवयुवकाें ने यह सीख लिया कि आर्यजाति के लाेग भेड़ बकरी चरानेवाले, अशिक्षित, असभ्य, निपट गँवार थे ; इस देश में एकता नहीं रही ; हिन्दू, मुसलमानाें में सदैव झगड़े टण्टे चलते रहे, ताे बतलाइए कि इन बाताें से हमें अपने पूर्वजाें में श्रद्धा उत्पन्न हाेगी या घृणा का अंकुर आराेपित हाेगा । ख़ास कर बालकाें के काेमल हृदय-पटल पर यदि काेई अनुचित भाव अंकित हाे गया ताे उसका अनिष्ट फल समाज काे भुगतना पड़ेगा और फिर उनमें राष्ट्रीय भाव जागृत करने की आशा कैसे सफल हाेगी ।

इतिहास का महत्व

इतिहास से विदित हाेता है कि मानव-जाति का क्रमशः विकास किस प्रकार हुआ है । गत शताब्दियाें के इतिहास के पठन-पाठन से ही हम वर्त्तमान घटनाओं की यथार्थता समझ सकते हैं एवं अपने समय काे भली भाँति जानकर हम भविष्य में कुछ ठीक अनुमान कर सकते हैं । इतिहास में मृतप्राय जातियाें के लिए जीवन-प्रदान करने की शक्ति है । फूट आदि कारणाें से बिछुड़ी हुई जातियाें का संगठन (मिलाप) इसी के अध्ययन या मनन से हाेता है । क्योंकि यह बतलाता है कि पतित जातियाें का जाे पुनरु-

द्धार हुआ, सो किस किस अवलम्ब से हुआ, और उसमें क्या क्या स्वार्थ-त्याग, कितने गाढ़ प्रेम और देशभक्ति की आवश्यकता हुई । जिस प्रकार महात्मा पुरुषों के जीवन-चरित्र हमें सिखलाते हैं कि हम क्योंकर उच्च कोटि के मनुष्य बन सकते हैं, उसी प्रकार उन्नत देशों का इतिहास किसी जाति को उच्च बनना सिखा सकता है ।

इतिहास का दूसरे विषयों से सम्बन्ध

भूगोल के सम्बन्ध में तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि इसका ज्ञान होना अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके बिना भिन्न भिन्न घटनाएं ठीक ठीक स्मरण नहीं रह सकतीं । तर्क का भी साधारण बोध अवश्य होना चाहिए, ऐसा न हो कि विद्यार्थी समझ बैठे कि यदि एक स्थान में किसी समय एक घटना लाभकारी सिद्ध हुई तो सब स्थानों में और सदैव वैसी ही प्रमाणित होगी ।

इतिहास के विद्यार्थी को भूगोल और तर्क के अतिरिक्त सम्पत्ति-शास्त्र से भी निरा शून्य नहीं रहना चाहिए । क्योंकि इतिहास के पठन-पाठन में एक आँख सदा धन पर रखनी होती है । इस विषय में भारत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मि० हरदयाल ने 'मर्यादा' में इस प्रकार लिखा है—

'इतिहास' में जो उलट फेर होते हैं केवल धन ही के लिए होते हैं, आर्य हिन्दू देश के असली वाशिंदों से लड़े तो धन के लिए, पठान-मुगल लश्कर लेकर आये तो धन के लिए, तैमूर लँगड़ाता हुआ देहली पहुँचा तो धन के लिए, नादिरशाही मची तो धन के लिए, पोर्चुगीज़ सात समुद्र पार करके आये तो धन के लिए, अंगरेज़ों और फ़रासीसों में जूते चले तो धन के लिए, जिधर धन होता है फौज उधर ही क़दम उठाती है । ब्राह्मणों ने अपना मेल जोल बढ़ा कर जाति को परमार्थ की दासता में

फंसाया तो धन के लिए, ब्राह्मण क्षत्रियों में लड़ाई हुई तो धन के लिए। केवल मान के लिए कोई झगड़ा नहीं होता। ब्राह्मणों ने बुद्ध भगवान का विरोध किया तो इस भय से कि उनका धन न छिन जाय। क्षत्रियों ने राजों, महाराजों, सरदारों, ठाकुरों की जंज़ीरों में जाति को जकड़ा तो धन के लिए। आज तक इस बंधन से छुटकारा नसीब न हो सका। निदान धन बहुत से आन्दोलनों का स्रोत है।

इतिहास की शिक्षा

विद्यार्थियों को आरम्भ से ही राष्ट्रीय महापुरुषों को गौरव की दृष्टि से देखना सिखाया जाना चाहिए। उनकी पाठ्य-पुस्तकों में और विषयों के साथ साथ पृथ्वीराज, राणा प्रताप, शेरशाह, अकबर, गुरु नानक, गोविंदसिंह, शिव जी आदि महात्माओं के जीवन-चरित्र की मुख्य मुख्य घटनाओं का समावेश उचित रीति से हो जाना चाहिए। फिर ज्यों ज्यों उनकी बुद्धि बढ़ती जाय एवं जब वे भूगोलादि अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लें तब उनको देश का इतिहास सिखाया जाना उचित है। अपने देश का इतिहास हृदयंगम करने के पश्चात् संसार का संक्षिप्त इतिहास भी देखना चाहिए। क्योंकि इसके बिना हमें सर्व-व्यापी ऐतिहासिक नियम मालूम नहीं हो सकेंगे। कई एक विद्वान् सहमत होकर कहते हैं कि जिन पुरुषों को राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करना हो, उन्हें यूरप का इतिहास भले प्रकार मनन कर लेना चाहिए। साधारणतया उन देशों का इतिहास लाभ-कारी होगा जो पहले उन्नति के शिखर पर चढ़े, फिर कालचक्र के फेर से अवनति के गड्ढे में जा उतरे और अब प्रकाश में आने का प्रयत्न कर रहे हैं। उदाहरणवत् यूनान, रोम तथा चीन। इनके अतिरिक्त उन देशों का इतिहास भी जानना आवश्यक है जिनसे हमारा अब घनिष्ट सम्बन्ध है एवं जिनकी गणना प्रथम

कोटि के राष्ट्रों में हैं, जैसे इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, अमेरिका।

भिन्न भिन्न देशों का इतिहास हमें क्या उपदेश देता है इसके लिए तो कई एक स्वतंत्र लेखों की आवश्यकता है। पर स्थूल दृष्टि से बात यह है कि इङ्गलैण्ड के इतिहास से वहां की क्रमशः धीरे धीरे हुई उन्नति का पता चलता है और इटली और जर्मनी के इतिहास से उनकी एकता और राष्ट्रीयता की शिक्षा मिलती है। भगवान् करे कि हम इस सुशिक्षा से यथोचित लाभ उठावें॥

सम्पत्ति-शास्त्र

प्राक्कथन

"सम्पत्ति शास्त्र" शब्द से जनसाधारण परिचित नहीं। ज्योतिष-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, इत्यादि शास्त्रों के नाम तो बहुधा प्रयोग में आते हैं, परन्तु सम्पत्ति शास्त्र किस पदार्थ का द्योतक है? इससे मानव जाति का क्या हित-साधन होता है? इसके अज्ञान से प्रकृतिदत्त पदार्थों से हरा भरा देश भी किस प्रकार दरिद्रता के चंगुल में फँस जाता है? यह जाननेवाले महानुभाव पण्डित लोग इनेगिने ही हैं। वरन् कितने ही वेदान्तियों का तो इस शास्त्र से परस्पर ३६ के आँकड़ों का सा सम्बन्ध रहता है। जनसाधारण को इस विषय की ओर इतनी उपेक्षा होते देख किसी महाशय का ऐसा विचार कर बैठना साहजिक है कि भारतवर्ष ने कभी इस विषय का यथोचित महत्त्व नहीं जान पाया। परन्तु इस कल्पना को निर्मूल सिद्ध करने वाले पुष्ट प्रमाण वर्तमान हैं। उदाहरणवत् प्रसिद्ध नीतिज्ञ चाणक्य (कौटिल्य) और उशनादि के अर्थशास्त्र, तथा "अर्थवेद" नाम का उपवेद इत्यादि। तथापि हमें यह स्वीकार करने में संकोच न होगा कि इस शास्त्र का वर्तमान उन्नत स्वरूप पाश्चात्य

विद्वानों द्वारा ही दिया गया है और हमारे देशवासियों ने गत कई एक शताब्दियों में इस विषय को उदासीनता भाव से ही नहीं किन्तु घृणा की दृष्टि से देखा है। और इस बीसवीं शताब्दी में भी इस दरिद्रता-नाशक बूटी (सम्पत्तिशास्त्र) का यथेष्ट सेवन नहीं किया है।

नाम और व्याख्या

इस शास्त्र को (सम्पत्ति-शास्त्र के अतिरिक्त) अर्थ-शास्त्र, धन-शास्त्र, कुबेर की विद्या, इत्यादि नाम भी दिये जाते हैं।

यह शास्त्र "सामाजिक मनुष्य के धन सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रयत्नों की खोज करता है और उनके सिद्धान्तों को निश्चित करता है"। स्मरण रहे कि इस व्याख्या में "धन" का अर्थ केवल मोहर, रुपये, पैसे, आदि सिक्कों अथवा सोना चाँदी आदि धातुओं से ही नहीं है। वरन् इसके (धन के) अन्तर्गत वे सब पदार्थ समझे गये हैं जिनसे मनुष्य की किसी भी प्रकार की आवश्यकता पूर्ण हो सकती हो और जो विनिमयसाध्य हो। उदाहरणवत् कोयला, लोहा, लकड़ी, अन्न आदि चीज़ें भी धन हैं।

पुनः इस व्याख्या में "सामाजिक मनुष्य" शब्द आया है, इससे अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो समाज में अर्थात् दूसरे आदमियों की संगति में रहता हो। ऐसे मनुष्यों को विविध प्रकार की आवश्यकताएँ रहती हैं जिनको पूर्ण करने के लिए उन्हें भिन्न भिन्न रूप से परिश्रम करना पड़ता है, पसीना बहाना होता है और बुद्धि लड़ानी होती है, तब जाकर कहीं उन्हें अपने श्रम का फल स्वरूप आवश्यकता-पूर्ति का सुअवसर मिलता है। एकान्तवासी संन्यासियों से एवं हिमाचल की उँचाइयों और विन्ध्याचल की कन्दराओं में समस्त जीवन व्यतीत कर देने वाले योगियों से, और आवारा फिरनेवाले असभ्य लोगों से इस शास्त्र का कुछ सम्बन्ध नहीं। बात बिलकुल सरल है। इन लोगों को समाज की कुछ

परवाह नहीं होती और समाज से सम्बन्ध रखनेवाले सम्पत्ति-शास्त्र में इनका विवेचन कुछ स्थान नहीं पाता।

जातीय सम्पत्ति-शास्त्र

सम्पत्ति-शास्त्र का विज्ञान भाग अर्थात् इस शास्त्र द्वारा अन्वेषित सिद्धान्त सब देश और सब जातियों के लिए समान है और सब ही उनसे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु सब देश और जाति किसी एक समय में समान उन्नत नहीं होते, और भिन्न भिन्न समय पर उनको अलग अलग साधनों व नियमों की आवश्यकता होती है। इस लिए इस शास्त्र का व्यावहारिक भाग प्रत्येक देश और जाति की वर्तमान अवस्था के अनुकूल पृथक् पृथक् होना चाहिए। इसका नाम है "जातीय सम्पत्ति-शास्त्र"।

उपर्युक्त कथन को समझने के लिए एक ओर तो एक पाश्चात्य देश लो, यह विज्ञान तथा कला कौशल-प्रधान है। यह तनिक से मानसिक परिश्रम और बुद्धिबल से अनेक निर्मूल्य पदार्थों को अमूल्य बना सकता है। यहाँ साधारण शिक्षा और उद्योग धन्दों की शिक्षा के लिए यथेष्ट प्रबन्ध है और प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक आय १॥) डेढ़ रुपये से ऊपर है। दूसरी ओर भारत सरीखा कोई पूर्व का देश लो जो कृषीप्रधान हो; वर्षा न होने तथा बाहरी देशों में किसी वर्ष अमित खाद्य पदार्थों के चले जाने से जहाँ ७० फ़ीसदी मनुष्यों को जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हों; विज्ञान का जहाँ श्रीगणेशमात्र हुआ हो, औद्योगिक शिक्षा के समुचित प्रबन्ध का तो ज़िकर ही क्या। जब साधारण शिक्षा का प्रचार ही १००० मनुष्य-स्त्रियों में से ५३ में हो और जहाँ के प्रत्येक मनुष्य की दैनिक आय तीन पैसे हो।

उक्त दोनों देशों की स्थिति समान नहीं। अतः सम्पत्ति-शास्त्र के जो (व्यावहारिक) नियम एक देश के लिए हितकर हो सकेंगे उनका दूसरे देश के लिए भी हितकर होना अस्वाभाविक

है। इससे स्पष्ट है कि उक्त दोनों देशों के लिए सम्पत्ति शास्त्र का व्यावहारिक विभाग अर्थात् जातीय सम्पत्ति-शास्त्र पृथक् पृथक् निर्माण करने की आवश्यकता है।

सम्पत्ति-शास्त्र के भाग, और उनके अन्तर्गत प्रश्न

सुभीते और सरलता के लिए इस शास्त्र के मुख्यतः चार विभाग किये जाते हैं—

(१) सम्पत्ति की उत्पत्ति,

(२) सम्पत्ति का विनिमय,

(३) सम्पत्ति का विभाग,

(४) सम्पत्ति का व्यय,

इन चार विभागों में उन्हीं प्रश्नों तथा संस्थाओं पर विचार किया जाता है जो समाज को सुख-सम्पत्तिशाली बनाने के प्रयत्न में सीधे अथवा तिरछे रूप से उठा करते हैं। अवश्य इन प्रश्नों को तनिक विस्तार से लेना आवश्यक है जिससे इस शास्त्र का विषय कुछ अच्छी तरह ध्यान में आ जावे।

१—उत्पत्ति

उत्पत्ति के निम्नलिखित साधन हैं—

(क) प्रकृति अर्थात् भूमि, जल, वायु, (ख) श्रम, (ग) पूंजी, (घ) व्यवस्था, (च) राज्यप्रबन्ध। पिछले चार मनुष्य से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार मुख्य साधन प्रकृति और मनुष्य ही हैं।

विचारणीय प्रश्न

प्रकृति

हमारे देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों में पृथक् पृथक् कच्चे पदार्थों की उत्पादक शक्ति क्या है? यथेष्ट नहीं तो क्या कारण? विदेशों में इसकी क्या मात्रा है? हमें उत्पादक शक्ति की वृद्धि

के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए? वृद्धि किस हद्द तक होनी संभव है? पश्चात् क्या नियम काम करता है?

श्रम

देश का एक श्रमजीवी एक दिन के काम करने वाले घंटों में श्रम करके कितना पदार्थ उत्पन्न कर सकता है? किस प्रकार की शिक्षा देने से श्रमजीवी अपने कार्यक्षेत्र में अधिक चतुर हो सकता है? उसके स्वास्थ्य का समुचित विचार रक्खा गया है या नहीं? यदि उक्त श्रमजीवी अपने सीधे साधे औज़ारों को उठा कर रख दे और भाफ, पानी, हवा तथा बिजली से चलनेवाली कलों (मशीनों) से काम लेने लगे तो उसका क्या क्या प्रभाव पड़ेगा और उत्पत्ति कितनी बढ़ेगी? एवं श्रमविभाग किन किन हालतों में और कहाँ तक होना शक्य है? इससे लाभ ही लाभ है अथवा कुछ हानि भी है? आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का बाज़ार पर क्या प्रभाव पड़ता है?

पूँजी

सम्पत्ति किस अवस्था-विशेष में पूँजी बन जाती है? वह किस प्रकार संग्रह की जाती है? और इससे सम्पत्ति किस प्रकार बढ़ायी जाती है?

व्यवस्था

पहले पूँजी के मालिक ही सब काम की व्यवस्था कर लिया करते थे। अब एक अलग व्यवस्थापक अर्थात् मैनेजर की आवश्यकता क्यों हो चली? इस पद्धति से क्या क्या लाभ एवं क्या क्या हानि है?

राज-प्रबन्ध

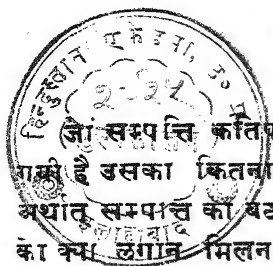
सम्पत्ति की बेरोक उत्पत्ति तथा समुचित रूप से रक्षा के लिए देश के बाहर भीतर दोनों तरफ़ शान्ति आवश्यक है। इसके लिए कैसे राज्यप्रबन्ध की सहायता चाहिए?

२—विनिमय

अर्थात् सम्पत्ति का परिवर्त्तन । मानव-जति के इतिहास में जब सिक्के ने पदार्पण नहीं किया था तब समाज का वह काम जो अब रुपये पैसों से होता है कैसे निकलता था ? उसमें क्या क्या असुविधाएं थीं ? वर्त्तमान सिक्के के पूर्वजन्मों से क्या क्या रूपान्तर थे, जिनमें से गुज़रते गुज़रते अंततः इसने क्रमशः यह उन्नतावस्था प्राप्त की ? आजकल यह कौन से रंग बिरगे रूपों से संसारी मनुष्य को मुग्ध करता है । कागज़ के नोट, हुंडी, चेक और बिल, तामे के पैसे, गिलट की इकन्नी, चांदी की दुअन्नी, चवन्नी, अठन्नी और रुपये, सोने की गिन्नी (मोहर) तथा हमारी प्राचीन मुद्रा—इनमें से कौनसा बीस बिस्सों खरा और कौनसा कहीं खोटा कहीं खरा समझना चाहिए ? इन भिन्न भिन्न रूपों की आवश्यकता किस किस समय अधिक प्रतीत होती है ?

दूसरे देशों से व्यापार करने में क्या क्या लाभ होते हैं ? क्या कुछ हानि भी हो जानी सम्भव है ? बाहर से आये माल की अपेक्षा, यदि कोई देश स्वयं अधिक माल बाहर भेजता है तो क्या उसके सम्पत्तिशाली होने का लक्षण है ? बाहर से आने वाले एवं देश से बाहर जाने वाले माल पर चुंगी लगनी चाहिए या नहीं ? अर्थात् व्यापार बाधित होना चाहिए अथवा निर्बाधित ? किन किन अवस्थाओं में किसी जाति के लिए कौन सी पद्धति हितकर होगी ? देश की कारीगरी व दस्तकारी शिल्प व हुनर बढ़ाने के क्या उपाय हैं ?

बैंक क्यों खोले जाते हैं ? इनके कितने भेद हैं ? प्रत्येक में क्या विशेष सुभीता है ? इनसे कृषकों को क्या लाभ हो सकता है ? बैंकों का दिवाला मुख्यतः किन कारणों से निकलता है ? उनसे बचने के क्या उपाय हैं ?



३—विभाग

जो सम्पत्ति कतिपय मनुष्यों की सहायता से उत्पन्न की जाती है उसका कितना हिस्सा किस व्यक्ति को मिलना चाहिए, अर्थात् सम्पत्ति का बटवारा किस प्रकार हो ? भूमि के मालिक को क्या लगान मिलना चाहिए ? श्रम-जीवी को मजूरी क्या होगी, रुपये (पूँजी) का सूद क्या मिलेगा, व्यवस्थापक को क्या मुनाफ़ा (और यदि वह व्यवसाय-पति का एक सेवक मात्र है तो क्या वेतन) मिलेगा ? राज्यप्रबन्ध के फल स्वरूप राज्य को क्या टैक्स अथवा राज-कर मिलना न्यायानुकूल है ? राज-कर वसूल करने की रीति अथवा उसकी मात्रा ऐसी तो नहीं कि जिस से प्रजा को असुविधा हो, और उसके भार से वह इतनी दब जावे कि सम्पत्ति की उत्पत्ति में उदासीनता भाव धारण कर ले।

मज़दूरों को मुनाफ़ा का कुछ अंश देने से व्यवसाय पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? सहयोगी समितियों से क्या लाभ है ? उनके कितने भेद हैं और उनका कैसे प्रचार होता है ?

४—व्यय

सम्पत्ति की उत्पत्ति इसलिए की जाती है कि उसके उपयोग का आनन्द मिले। परन्तु यदि उपयोग अथवा व्यय अनुचित रूप से होता हो तो कोई देश समृद्धिशाली नहीं हो सकता, चाहे उसमें सम्पत्ति कितनी ही क्यों न होती हो। इस लिए ऐसा कभी नहीं होने देना चाहिए कि ग़रीब मज़दूर कृषक लोग तो जैसे तैसे पसीना बहा कर पैदा करें, और दुष्ट अत्याचारी जन ज़बरदस्ती से और दम्भी, पाखण्डी अपने वाग्जाल से उस माल का मज़ा उड़ावें। मुफ्तख़ोरों की संख्या को देश से समूल हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। हाँ, अनाथ, बालक, स्त्रियों तथा लूले लङ्गड़े अपाहजों को सदैव दया-पात्र समझ उनकी जीविका का यथेष्ट प्रबन्ध कर देना चाहिए और इसमें

जो पैसा खर्च हो उसका भार यथाशक्ति सहन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

कुरीति तथा ऐश आराम में पैसे को बरबाद नहीं करना चाहिए। शराब आदि नशों का प्रयोग यथासम्भव बन्द कर देना उचित है। पैसे को ज़मीन में गाड़ना अथवा बेकार पड़े रहने देना मूर्खता है, क्योंकि यह पूँजी बन कर सम्पत्ति के उत्पादन में सहायक नहीं हो सकती, और इसका होना न होना देश के लिए तथा जमा करने वाले के लिए विशेष अन्तर नहीं डालता।

उक्त तथा इसी प्रकार की अन्य बातों पर सम्पत्ति-शास्त्र यथोचित तथा तर्कसंगत विचार करता है।

भारतवासियों की इस शास्त्र के प्रति उदासीनता

प्राचीन समय में जगत्‌शिक्षक भारतवासियों ने इस शास्त्र को चाहे जिस उत्साह से अध्ययन किया हो परन्तु अब तो कई शताब्दियों से इसे मानों जलाञ्जलि ही दी हुई है। कतिपय उपदेशकों की शिक्षा के प्रभाव से जन-साधारण ने ऐसी धारणा कर ली कि यह संसार अस्थायी है। न मालूम कल ही इसे छोड़ जाना पड़े। फिर धन किसके लिए संचय करना और काञ्चन (स्वर्ण) में तो कलि का वास रहता है।

'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिंतयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥'

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को भूल कर तो अर्थ और विज्ञान की प्राप्ति का विचार मन से हटा दिया गया, और उत्तरार्द्ध को खूब कंठ करके धर्म के आवेश में आ अनेक प्रकार के बनावटी (पाखंड) धर्म का विचार किया गया।

पुनः युवकों ने समझ लिया कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य देशोन्नति, तथा समाजोन्नति नहीं है, वरन् आत्मोन्नति है और इसका एक मात्र उपाय यह है कि घर तथा समाज से विरक्त हो

बनों में जा समाधि रमानी चाहिए। अपने बन्धुओं के साथ रहते हुए अपनी तथा उनकी उन्नति करने की आवश्यकता नहीं।

उच्च कुलाभिमानी मनुष्यों में यह विचार बढ़ता चला कि खेती करना पाप है, क्योंकि हल चलाने से अनेक प्राणियों की हत्या होती है। इसी प्रकार उद्योग धन्दे करना भी अधर्म में हाथ देना है, क्योंकि इससे जीवहिंसा होती है। बस, कृषक, शिल्पी, सुनार, लुहार, बढ़ई आदि पेशेवाले निम्न श्रेणी में गिने जाने लगे।

उपर्युक्त प्रकार के मतानुयायियों का सम्प्रदाय ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों धन से (कम से कम बाहरी रूप से) घृणा उत्पन्न होती गयी। फिर यह कैसे सम्भव था कि धन से सम्बन्ध रखनेवाले "सम्पत्तिशास्त्र" से ही जनसमुदाय प्रेम रखता। धीरे धीरे इसका पठन-पाठन कमती हो चला। इस पर अंधकार युग ने काम किया और कुछ समय के पश्चात् यह शास्त्र अध्ययन के योग्य ही न समझा गया। साथ ही अन्य कई एक अनिष्ट-कारी शक्तियों ने भी इसी समय में अपना प्रभुत्व दिखाया। इसका परिणाम भी जो स्वाभाविक था सो ही हुआ, लक्ष्मी ने इनसे मुँह मोड़ लिया, कृषि, कलाकौशल से भारत-वासी हाथ धो बैठे और खाँड़ और मलमल जैसी दिन प्रति दिन गृहस्थ के काम आनेवाली सैकड़ों चीज़ें—जिनके लिए भारत कभी जगत्प्रसिद्ध हुआ था, जिन्हें देखकर मुग्ध विदेशियों ने हज़ारों यातनाएं सह कर भारत में पदार्पण किया था—उन्हीं चीज़ों के लिए भारत-सन्तान दूसरों का मुख ताकने लगी।

नोट—(यह भीषणता अधिक उस समय प्रतीत होती है जब युद्ध में प्रवृत्त होने के कारण विदेशी व्यापारी अपना माल भारत में नहीं भेज सकते—जैसा कि योरुप के युद्ध के कारण अब स्थिति बीत रही है। क्या अब भी भारतवासी उचित शिक्षा ग्रहण करेंगे?)

अन्ततः बीसवीं शताब्दी आयी और लोगों का ध्यान विविध आवश्यकताओं से प्रेरित होकर, इस शास्त्र की ओर आने लगा, पर कौन कह सकता है कि अभी आटे में नमक के समान भी प्रयत्न हुआ है। हम पूँछते हैं कि भारतवर्ष को आय-व्यय के आँकड़े ही कितने महानुभावों को मालूम हैं? कदाचित हम उक्त आँकड़ों का व्यौरा (तफ़सील) देवें तो बहुत से भोले भाले पाठक तो यही कल्पना कर लेंगे कि लेखक कुबेर के धन का स्वप्न देख रहा है, नहीं तो दरिद्र भारत से इतनी आय होनी कैसे शक्य है और यदि होती भी तो उसके समुचित व्यय से भारत कम से कम पेटभरा और शिक्षित तो भी होता। अस्तु हम इतना ही निवेदन करेंगे कि इस विषय के लिए "मर्य्यादा" की किसी गत संख्या का "कोष दोष" शीर्षक लेख मनन करने योग्य है। हमारे 'भारतीय शासन' में 'सरकारी आय-व्यय' पर एक स्वतंत्र परिच्छेद है, उससे व्यौरेवार हाल मालूम हो सकता है।

क्या इतनी उदासीनता आर्य्यसन्तान को कभी शोभा दे सकती है? प्रत्येक पाठक के तनिक शान्त और गम्भीर विचार की आवश्यकता है। अहाहा! आज मतमतान्तरों के झगड़ों से ज़मीन आसमान चहुँओर गुँजा दिया जाता है परन्तु पेट भरनेवाली विद्याओं के लिए छात्रों को एवं पंडितों को अवकाश नहीं। प्रियवरो! धर्म कर्म तभी रहेगा जब मनुष्यों की जठराग्नि को यथेष्ट आहुति, मिलेगी। स्मरण रक्खो, "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"।

देश की आर्थिक उन्नति स्वतंत्रता की पहिली सीढ़ी है

प्रायः देखा जाता है कि आजकल जहाँ तहाँ स्वतंत्रता का राग अलापा जा रहा है। दुष्प्राप्य राजनैतिक अधिकारों के लिए जगह जगह चिल्लाहट मच रही है। पर हम पूँछते हैं, कि क्या

भारतीयों ने अपने आर्थिक उन्नतिसम्बन्धी काम पूर्णरूप से कर लिये हैं, जिनकी सफलता पंद्रह आने उन्हीं के हाथ में है? कृषी, शिल्प, व्यवसाय, तथा उद्योग धंदों में क्या यथेष्ट उन्नति हो चुकी है? जब जनसाधारण अपनी जीविका को ही स्वतंत्र उपायों से प्राप्त नहीं कर सकते, पेटभर अन्न के लिए ही जब पराधीनता की पराकाष्ठा को पहुँचानेवाली नौकरी की तलाश होती है, तब राजाधीनता स्वाधीनता की पुकार किसी काम की नहीं। हमें नीतिकार का यह श्लोक स्मरण रखना चाहिए—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिसेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ।

अर्थात् जिन बातों में हमारी स्वतंत्रता निश्चित है, उन्हीं की ओर प्रथम ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रत्येक भारतसन्तान का, जो राष्ट्रोन्नति का इच्छुक है, कर्तव्य है कि वह देश की आर्थिक उन्नति का यथाशक्ति प्रयत्न करे। क्योंकि भूखे से कभी किसी बड़े काम की पूर्ति नहीं हो सकती। उनके पापी आत्मा को चोरी, डाके, छल, कपट, आदि के विचारों से ही छुटकारा मिलना कठिन है।

सम्पत्ति शास्त्र के पढ़ने की आवश्यकता

बनावटी वार्तालाप, तथा बाहरी ढोंग किसी का चाहे जो हो, हमारा पूर्ण विश्वास है कि समाज में रहनेवाले प्रत्येक मनुष्य को धन की आवश्यकता होती है। प्रथम पेट भरने और पश्चात् क्रमशः वस्त्र, आभूषण, गृहनिर्माण, मानसिक प्रसन्नतादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए धन सबको चाहिए। फिर समझ में नहीं आता कि धन सम्बन्धी शिक्षा देनेवाली विद्या से ही क्यों घृणा होनी चाहिए। हमारा वक्तव्य है कि यह शास्त्र

सबको ही सीखना चाहिये, परन्तु उन महाशयों के लिए तो इसकी आवश्यकता विशेष ही हो जाती है जो अपने मनुष्यजन्म को सार्थक करना चाहते हैं, जिनका इस जीवन में कुछ परोपकारी लक्ष्य है, जो इस तत्त्व को पहिचानते हैं कि किसी विशेष उद्देश को पूर्ण करने के हेतु ही उनकी अमर आत्मा ने इस मृत्युलोक में अवतरण किया है।

अच्छा प्रिय पाठक! तनिक सोचो, इस जीवन में किस ख़ास काम के करने की तुम्हारी दृढ़ इच्छा है। क्या तुम्हारा हृदय इस बात से दुखित है कि आजकल सहस्रों भाई प्रति वर्ष पेटपूजा की सामग्री यथोचित मात्रा में न मिलने के कारण अन्य धर्मों की दीक्षा लेते हैं? अच्छा यदि तुम इसे रोकना चाहते हो, तो रुपया कमाओ और उनके रोटी कपड़े की सुव्यवस्था करो। क्या तुम्हारे मन में यह उत्कंठा लगी है कि देशबन्धुओं को अज्ञानान्धकार से निकाला जाय, उन्हें जातीय पाठशालाओं और महाविद्यालयों में शिक्षा दिलायी जाय, स्थान स्थान पर सदाचारी उपदेशक भेज कर जातीय सुधार का बीड़ा उठाया जाय, जनसाधारण के सुभीते के लिए आवश्यकतानुसार धर्मशालाएं और अनाथालयादि खोले जांय?

स्मरण रक्खो कि इन सब कामों के लिए धन की आवश्यकता होगी। यदि अपने उद्देश में सफलमनोरथ होना चाहो तो टके कमाने की विद्या सीखने में मन लगाओ, तभी कल्याण होगा।

सम्पत्तिशास्त्र की शिक्षा

इस शास्त्र के विद्यार्थी को भूगोल, गणित, तर्क, इतिहासादि कई विषयों के साधारण ज्ञान की आवश्यकता होगी। इसलिए छोटी अवस्था में इसका समझना कठिन होगा। हाँ एक एक

दो दो सिद्धान्त रोचकरूप में उसके सामने रक्खे जाँय तो अनुचित न होगा । विद्यार्थी को इस विषय में उत्साह दिलाने की बड़ी आवश्यकता है। हमारा मत है कि मैट्रीक्यूलेशन की कक्षा के पाठ्यक्रम में इस शास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्तों का समावेश अवश्य होना चाहिए और प्रत्येक ग्रेजुएट (बी० ए०) को भारतीय सम्पत्तिशास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि जिस शिक्षा से हमें अपने देश के इतिहास से और सम्पत्तिशास्त्र से ही यथोचित परिचय नहीं मिला, वह शिक्षा किस काम की ?

हमारा कर्तव्य

हर्ष का स्थान है कि गत १०, १५ वर्षों में हिन्दी भाषा में उपयोगी विषयों की पुस्तकें लिखने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। परन्तु अभी तक व्यर्थ गंदे उपन्यासों और धर्म (?) सम्बन्धी वादविवादों से काग़ज़ ही नहीं वरन् पढ़नेवालों के मन भी काले किये गये हैं। ज़रूरत आ पड़ी है कि सुलेखक परस्पर के झगड़ों को छोड़ रोटी के प्रश्न पर लेखनी उठावें। हम आशा करते हैं कि सुलेखकों के मैदान में आने पर दानवीर सेठ साहूकार आर्थिक सहायता देने से मुँह न मोड़ेंगे।

कैसी विलक्षण स्थिति है कि पाश्चात्य देशों में जहाँ लक्ष्मी की कृपा पहले ही से कम नहीं है; वहाँ प्रति वर्ष अनेक पुस्तकें इस विषय की निकलती हैं और उन्हें पढ़ाने के लिए नवीन नवीन पाठशालाएँ (दिन ही की नहीं, रात्रि की भी) खोली जा रही हैं। और इधर हमारे देश में तो वैराग्यभाव ही प्रधान है। हमें अत्यन्त शोक है कि इस समय केवल दो तीन ही पुस्तकें इस विषय की उपलब्ध हैं।

यह बड़े दुःख की बात है कि हमारे भारतीय ग्रेजुएट, वे ग्रेजुएट जिन्होंने सम्पत्तिशास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन किया

है, इस ओर दृष्टिपात नहीं करते । आजकल इस विषय के विविध प्रकार के ऐसे ग्रन्थ हिन्दी में लिखे जाने की परम आवश्यकता है जिनको पढ़ कर भारतीय छात्रों को पेट भरनेवाली इस आवश्यक विद्या का ज्ञान हो ।

अस्तु, जितने समय तक और पुस्तकें तैयार न हों तब तक जो पुस्तकें मिलती हैं उन्हें ही प्रत्येक विद्यार्थी को देखना चाहिए । साथ ही हिन्दी भाषा में ऐसे पत्र पत्रिकाओं की आवश्यकता है जो इस विषय का बोध कराती रहें ।

आओ, इस विषय को भली प्रकार विचारें, जिससे इस पुण्यभूमि भारत में सब बन्धुओं को जोविका का समुचित प्रबन्ध हो और उन्हें मानसिक और आत्मिक उन्नति का यथेष्ट अवसर मिले ।

नीति

व्याख्या

मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य को बोध करानेवाली विद्या को नीति कहते हैं । यह विद्या हमारी मानवी प्रवृत्ति का संशोधन करती हुई हमें परस्पर व्यवहार की शिक्षा देती है । इसी के द्वारा हमें यह पता चलता है कि हमारे अपने अथवा किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्ति-समूहों (समाजों) के काम उचित हैं या अनुचित । कोई हमसे अधिक बलवान् पुरुष हमारा स्वत्व तो अपहरण नहीं करता । एवं हमने किसी अपने से निर्बल आदमी का कोई अधिकार तो नहीं छीन लिया ।

भेद

मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध विविध प्रकार के होने से नीति के अनेक भेद होते हैं । उदाहरण के लिए व्यापार करते समय हमें

जिन नियमों पर चलना चाहिए वे "व्यापार नीति" के अन्तर्गत हैं। रणक्षेत्र में जो नियम व्यवहृत होते हैं, उनके निर्धारण करनेवाली नीति "रण-नीति" कहलाती है। प्रजा का राजा के प्रति क्या कर्त्तव्य है, राजा को किन क़ानूनों द्वारा प्रजा का हितसाधन करना चाहिए, इस विषय की मीमाँसा करनेवाली नीति को "राजनीति" कहते हैं, इत्यादि। बहुधा ऐसा भी हो जाता है कि किसी विशेष घटना के विषय में एक स्थिति में जो नियम काम देता है, वह अन्य स्थिति में वैसी ही घटना के विषय में रद्द हो जाता है और दूसरा नियम प्रयोग में लाया जाता है। दृष्टान्त के लिए जब कोई आदमी किसी को मार दे तो साधारण नियम है कि वह मृत्यु-दंड का भागी बनाया जाय, परन्तु यदि मृत-पुरुष डाकू, स्वदेशद्रोही या दुष्ट आक्रमणकारी हो, तो उसके मारनेवाले पर कोई अभियोग न लगाया जायगा, वरन् वह स्वदेशभक्त की पदवी से गौरवान्वित होता हुआ पुरस्कार का अधिकारी होगा।

देश-काल के भेद से प्रचलित नीति में कुछ भेद आ ही जाया करता है।

नीति का मूल अर्थात् धर्म

जनता में जो नैतिक धारणा पायी जाती है, उसका मूल कारण प्रायः धार्मिक भाव ही है। यद्यपि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में पृथक् पृथक् मत प्रचलित हैं, तथापि धर्म के मोटे मोटे सिद्धान्तों में मतभेद नहीं है। अधिकाँश संसार एक प्रबल शक्ति में (उसे परमात्मा, प्रकृति आदि चाहे जो नाम दो) विश्वास रखता है और यह विश्वास उसे धर्म-पथ से विचलित नहीं होने देता। इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म और कर्मानुसार फलप्राप्ति के संयुक्त सिद्धान्तों से यह विचार होना स्वाभाविक ही है कि जिन कर्मों का फल इस लोक में नहीं मिला, उनका भावी जन्म में

मिलेगा । इससे भी मनुष्यों की शुभकर्मों में प्रवृत्ति होती है और वे यथाशक्य दुष्कर्मों से बचना चाहते हैं । कारण कि साधारणतया मनुष्य स्वभाव से ही स्वहिताभिलाषी होता है और अपने भविष्य को दुःखमय बनाना नहीं चाहता । हाँ, विद्या के अभाव से जो आदमी अदूरदर्शी और विवेचना शक्ति से शून्य हों उनकी बात न्यारी है । जो हो, भारतवर्ष में ईश्वर और परलोक का विश्वास अपेक्षाकृत बहुत है । यदि ज्ञानप्रचार भी यथेष्ट हो तो निस्संदेह यहाँ के आदमी भले प्रकार अपने अपने कर्तव्य-पथ पर चलें ।

जो आदमी ईश्वर और परलोक में विश्वास नहीं रखते, उनके लिए भी नीतिपालन कुछ कम आवश्यक नहीं, कारण कि ऐहिक सुख की अभिलाषा तो उन्हें भी रहती ही है, और नहीं तो, इसी के लिए वे नीति का महत्त्व पहचानते हैं ।

नीति का महत्व

संक्षेप में यहाँ कहा जा सकता है कि संसार का धर्म-सुख या शान्ति, सब नीति पर ही अवलम्बित है । इस कथन में अत्युक्ति की छटा प्रतीत हो सकती है, परन्तु विचार करने पर इसकी सत्यता प्रकट हो जाती है । कल्पना करो कि यदि मनुष्य समाज-नीति को तिलाञ्जलि दे दे, उचित अनुचित, धर्म अधर्म, न्याय अन्याय का विचार न कर प्रत्येक व्यक्ति अपने से कमज़ोर को मारने, काटने, उसका धर्म नष्ट करने और धन-द्रव्य छीन लेने में संकोच न करे, तो यह संसार कै घड़ी ठहरे ? 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम का अबाध्यरूप से चलना, दूसरे शब्दों में संसार का संहार होना है । यदि दस आदमी मुझसे निर्बल हों और मैं उनको यथेष्ट पददलित करने लग जाऊँ तो कोई मेरा भी बड़ा गुरु मिल ही जावेगा, फिर मेरी ख़ैर कहाँ (इस प्रकार अंततः एक का ही आधिपत्य रह जावे) यही—विचार

है जो अधिकांश लोगों को अपनी अपनी अधिकार सीमा के अन्दर रहने पर बाध्य करता है, और जिससे सब आदमी नियमानुसार काम चलाते हैं और समाज नियम-बद्ध रहता है।

नीति का दर्जा अन्य सब प्रकार की विद्याओं के दर्जे से मुख्य है, क्योंकि मनुष्य को वास्तविक मनुष्यत्व इसी के द्वारा प्राप्त होता है। जो मनुष्य नीतिभ्रष्ट हैं, जिनमें अहंकार, लोभ, मोह, छल, कपट, चोरी, मिथ्याभाषण, व्यभिचार आदि अमानुषिक प्रवृत्तियों का संचार है, वे चाहे जितने शिक्षित क्यों न हों, मानव समाज के योग्य नहीं। वे मनुष्य-श्रेणि की कलंक कालिमा मात्र हैं। इसलिए हमें चाहिए कि अन्य शिक्षा प्राप्त करते समय नीति के महत्त्व को भी ध्यान में रखें और यथोचित नीतिशिक्षा ग्रहण करते जावें।

नीति-शिक्षा

नीति-शिक्षा के दो भेद हैं—(१) ज्ञानात्मक, (२) क्रियात्मक ज्ञानात्मक शिक्षा से अभिप्राय नीति के मूल तत्त्वों और सिद्धान्तों से परिचय पाना है। यह कार्य व्याख्यान और उपदेशों के सुनने तथा स्वाध्याय से हो जाता है। मनु जी महाराज के बतलाये हुए धर्म के दस लक्षणों (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध,) में किसी न किसी रूप से प्रायः सब नैतिक गुण आगये हैं और सरल व्याख्या द्वारा सहज ही इनका बोध हो जाता है। इन गुणों को सब ही सभ्य मनुष्य हितकर समझते हैं, किसी का मतभेद नहीं और इनका भलीभाँति प्रचार होना भी चाहिए।

परन्तु केवल यह बात जान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि अमुक बात ग्राह्य है या त्याज्य। आवश्यकता इस बात की है कि हम उक्त सिद्धान्तों को व्यवहार में लावें और उनका अभ्यास करें।

इसलिए केवल ज्ञानात्मक शिक्षा से काम नहीं चल सकता, क्रियात्मक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है, और यह निस्सन्देह कठिन भी है। इसमें सुनना या पढ़ना लाभकारी हो सकता है, परन्तु विशेष प्रभाव आँखों देखे उदाहरण का पड़ता है। अतः बालकों को ऐसी परिस्थिति में रक्खा जाना चाहिए जहाँ वे अच्छे ही रंग में रँगे जावें। आरम्भ में माता पितादि कुटुम्ब के आदमियों, और पश्चात् अध्यापकों और साथियों से ही नैतिक शिक्षा ग्रहण की जाती है। हमारे यहाँ प्राचीन गुरुकुल आदि संस्थाओं से आदर्श आचरणवाले भद्र पुरुष निकला करते थे, सो इसी कारण तो कि वहाँ अध्यापक उच्च कोटि के (इससे मतलब अधिक वेतनभोगी से नहीं, वरन् उत्तम गुणवालों से है) होते थे। अब भी शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों को चाहिए कि अध्यापकों को अन्यान्य गुणों के साथ साथ उनके उच्च चरित्र का भी ध्यान रक्खें।

अन्य साधन

भले कामों में उत्साह बढ़ाने के लिए पुरस्कार और बुरों से चित्त हटाने के लिए दण्ड की परिपाटी का बहुधा प्रचार पाया जाता है। आरम्भ में यह ठीक ही है, परन्तु धीरे धीरे विद्यार्थियों के घट में यह बात उतार देनी चाहिए कि अच्छे काम सदैव अन्ततो गत्वा हितकारी होते हैं, इसीलिए उन्हें करना चाहिए, प्रकटरूप में उनका पुरस्कार मिले या न मिले। इसी प्रकार बुरे काम हानिकारक होने के कारण त्याज्य हैं, उनका तात्कालिक दंड न भी मिले तो भविष्य में कभी न कभी उनका कुफल भुगतना अवश्य पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त बालकों में यह आदत पड़ जानी चाहिए कि सोने से पहले प्रत्येक रात्रि को वे अपनी तमाम दिनचर्या पर एक दृष्टि डाल कर शुद्ध हृदय से यह विचार कर लिया करें

कि हमने कोई अनुचित कार्य्य तो नहीं कर डाला है; यदि कोई हो गया हो तो आगे उससे बचें, एवं जो अच्छा परोपकारी काम बन आया हो तो भविष्य में पुनः पुनः वैसे अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा करें।

पुस्तकें

हिन्दी-भाषा में नीति की अधिकांश पुस्तकें तो प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवादमात्र हैं या उनके आधार पर लिखी हुई हैं। यथा शुक्र-नीति, भर्तृहरिनीति-शतक, चाणक्य-नीति, विदुरनीति, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, बालनीति, इत्यादि। नीति की अर्वाचीन स्वतन्त्र पुस्तकों में विशेषतया 'कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र,' और 'नीतिदर्शन' नामक पुस्तकें ही हमारे देखने में आयी हैं। यह तो रही साधारण नीति की बात, अब कुछ राजनीति के विषय में उल्लेख करते हैं।

राजनीति

यथेष्ट शिक्षा-प्रचार न होने से भारतवर्ष में अधिकांश लोग राजनीति को एक भयानक भूत समझते हैं और इससे कोसों दूर रहते हैं। इस देश में राजनैतिक विषयों की चर्चा बहुत कम होती है, बड़े बड़े आन्दोलन थोड़े से ही क्षेत्र में परिमित रहते हैं। जनसमुदाय उनमें भाग नहीं लेता। देशी भाषाओं में राज-नीति-सम्बन्धी समाचारपत्र व पत्रिकाएँ यहाँ इनी गिनी हैं और ऐसी पुस्तकों का तो एक दम अभाव*ही है हम यह स्वीकार करते हैं कि राजनीति कोई खिलवाड़ नहीं, बड़ा गूढ़ और गम्भीर विषय है, इसलिए हर किसी को इसमें हाथ नहीं डालना चाहिए,

*इसी अभाव को असहनीय समझ लेखक ने एक पुस्तक "भारतीय शासन" नामक लिखी है जो प्रत्येक नागरिक के पास रहनी चाहिए। इसका अब दूसरा संस्करण निकलने वाला है। मूल्य केवल दस आने।

परन्तु इससे इतना पराङ्मुख रहना भी तो किसी सभ्य देश को शोभा नहीं देता। "कोउ नृप होउ हमें का हानी" की नीति वर्तमान शताब्दी के योग्य नहीं। पुनः यहाँ पर कुछ लोगों ने राजनीति शब्द को भ्रमवश राजद्रोह का समानार्थवाची ही समझ लिया है। यह स्थिति अब देर तक नहीं रहनी चाहिए।

भारतवर्ष की राजभक्ति तो प्रसिद्ध ही है। अब ज़रूरत यह है कि यहाँ के निवासी राज्य-प्रबन्ध में यथेष्ट भाग लेने के योग्य हों। शासन की कल किस प्रकार चलती है, यह जानना उनके लिए पहिली सीढ़ी है—इसलिए इस विषय की शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

राजनीति-शिक्षा

परन्तु हमें खेद है कि यह शिक्षा बहुत कम लोगों को मिलती है। ज्ञानात्मक शिक्षा का तो यह हिसाब है कि बी० ए० की पढ़ाई से पहले तो इसकी ओर ध्यान दिलाने की व्यवस्था ही बहुत कम है। बी० ए० में जो विद्यार्थी इतिहास का विषय लेते हैं उन्हीं को भारतीय राज्य-प्रबन्ध का कुछ बोध करना होता है—दूसरों को इससे कुछ वास्ता नहीं। फिर एम० ए० के अन्यान्य विषयों में से एक विषय इतिहास और राजनीति है। परन्तु कोई विद्यार्थी इसे लेने को वाध्य नहीं किया जाता, जिस की इच्छा हो ले। प्रायः सब विश्वविद्यालयों का यही हाल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे कितने ही ग्रेजुएटों को भी इस महत्त्वपूर्ण विषय का साधारण बोध ही नहीं हो पाता। सम्पत्ति-शास्त्र की भाँति इस विषय में भी हमारे मत में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक मैट्रीक्युलेशन वाले विद्यार्थी को देश की राजनैतिक स्थिति का साधारण परिचय ज़रूर ही मिले और हर एक ग्रेजुएट इसके मर्म और गूढ़ तत्त्व जानने के योग्य हो सके। अन्यथा शिक्षा का मूल्य बहुत थोड़ा है।

अब रही बात व्यावहारिक शिक्षा की। इसके लिए देश के लोकल बोर्ड, ज़िला बोर्ड, और म्युनिसिपेलटियाँ हैं। आरम्भ में इन संस्थाओं में शिक्षा पाकर देश के विद्वान् भद्रपुरुष कौंसिल मेम्बरी की उच्च कक्षा के योग्य हो सकते हैं। परन्तु कौन कह सकता है कि राजनीति की उक्त प्रारम्भिक संस्थाओं के सब तो क्या अधिकांश ही नवयुवक यथेष्ट शिक्षा ग्रहण करते हैं और वे कौंसिलों में अपने उचित कर्तव्य का पालन करते हैं। क्या यह बहुधा देखने में नहीं आता कि मेम्बर लोग वाहवाही लूटने के अभिप्राय से अपने सामाजिक और दैशिक हित को ताक में उठा रखते हैं? क्या हम आशा करें कि भविष्य में हमारे माननीय महाशयगण अपने अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण विचार रक्खा करेंगे? फिर बहुतेक म्युनिसिपेलटियों के अधिकारी ही बहुत संकुचित हैं। उनके मेम्बर निर्वाचन में जनता का पूरा हाथ नहीं रहता। उनका कर्ता-धर्ता अध्यक्ष या सभापति मेम्बरों द्वारा चुना हुआ नहीं होता। इस विषय में ज़रूरत है कि उदार सरकार अपनी उदारता का परिचय दे, जिससे चिरस्मरणीय लार्ड रिपन की चलायी हुई इन संस्थाओं का उद्देश्य सिद्ध हो और देश का कल्याण हो।

तर्क-शास्त्र

तर्कशास्त्र वह विद्या है जो मानवी विचारों से सम्बन्ध रखनेवाले आवश्यकीय एवं विध्यनुकूल नियमों का अन्वेषण करे। सभी मनुष्यों के हृदयंगत विचार भाषा द्वारा प्रकट होते हैं। अतएव इस विद्या से जहाँ शुद्धतापूर्वक मनन करने की शिक्षा मिलती है, वहाँ साथ ही यह भी बोध होता है कि हम अपने विचार किस प्रकार प्रकट करें कि जिससे हमारे वाक्यों

में परस्पर विरोध न हो जाय एवं हम दूसरों के कथन का अभिप्राय भी ठीक ठीक समझने में त्रुटि न करें।

यह बात प्रत्यक्ष है कि जब तक हमें शुद्धतापूर्वक मनन या चिंतन करना न आयगा, तब तक हम किसी विद्या के सम्बन्ध में न कोई खोज कर सकेंगे और न आविष्कारों के विषय में कुछ सत्य सिद्धान्त ठहरा सकेंगे। इससे ज्ञात होगा कि तर्कशास्त्र सब शास्त्रों से अधिक व्यापक अथवा विस्तृत है और सब शास्त्रों को इसकी अपेक्षा रहती है। अन्य शास्त्र तो किसी एक विशेष विषय का ही अनुसन्धान करते हैं, परन्तु तर्कशास्त्र उन मूल तत्त्वों का चिन्तन करता है जिनके प्रयोग की सब शास्त्रों को आवश्यकता होती है। यही कारण है कि तर्कशास्त्र को 'विज्ञानों का विज्ञान' अथवा 'सब विज्ञानों का जन्मदाता' की पदवी प्रदान हुई है।

विगमन

तर्कशास्त्र के दो विभाग हैं—विगमन और निगमन। विगमन एक घटना किसी विशेष स्थिति में, किसी विशेष रूप से होती देखी गयी है, बारबार भिन्न भिन्न समयों पर परीक्षा लेने से उसके प्रकार में अन्तर नहीं आया, तो इससे साधारण सिद्धान्त स्थिर करना।

इसके लिए ध्यानपूर्वक निरीक्षण और परीक्षण की आवश्यकता है। जब एक सिद्धान्त कुछ विषयों में सत्य प्रमाणित हो चुकता है, तब उस की सार्वभौमिक सत्यता पर विचार किया जाता है। इसे विगमन कहते हैं।

उदाहरण—मेरे हाथ में कलम, दवात और पुस्तक है। हाथ से छूटने पर यह सब पदार्थ पृथिवी पर गिर जाते हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों को देखते हैं कि जब उन्हें सम्हालनेवाली कोई शक्ति नहीं रहती तब वह ज़मीन पर गिर जाते हैं। मन में शङ्का उत्पन्न

हुई कि क्या पृथिवी में आकर्षण शक्ति है । बार बार परीक्षा की, और उपर्युक्त क्रम में कोई अन्तर उपस्थित न हुआ, तो वह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि पृथ्वी सब पदार्थों को अपनी ओर आकर्षण करती है ।

इस प्रकार सिद्धान्त स्थिर करने में हम पहले यह मानकर चलते हैं कि सृष्टिक्रम सर्वत्र एक समान है, उसके नियम स्थिर हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता । जिन जिन कारणों से किसी एक समय और एक स्थान में एक कार्य बन गया है, उन उन कारणों से अथवा वैसी ही स्थिति में पुनरपि वह कार्य होगा । बिना कारण कोई कार्य नहीं होता और शक्ति कभी नष्ट नहीं होती ।

निगमन

निगमन से अभिप्राय एक सिद्धान्त को किसी घटना विशेष में घटा कर देखने से है । उदाहरण—साधारण निरीक्षण से यह सिद्धान्त ठहरा हुआ है कि जिन (प्राणियों) का जन्म हुआ है उनका मरण होता है । अब यदि "क" नामक प्राणी का जन्म हुआ है तो "क" नामक प्राणी की मृत्यु होगी ।

इस प्रकार नतीजा निकालते समय हमें स्मरण रखना चाहिए कि यदि हमारा सिद्धान्त सर्वथा सत्य नहीं है तो हमारी तर्कशैली में त्रुटि हो जानी स्वाभाविक ही है । और सिद्धान्त उसे ही कहना चाहिए जो सर्वत्र, सब समय, सब लोगों में एक समान घटित होता हो ।

इस विषय में श्री० राधामोहन गोकुल जी ने अपनी 'देश का धन' नाम की पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि "बहुधा ऐसा होता है कि एक समय में एक व्यक्ति में एक बात का परिणाम

जो देखने में आता है, वह सर्वथा सर्वसाधारण में वैसा ही नहीं पाया जाता, तो उसको सिद्धान्त नहीं कह सकते । जैसे हम किसी ग्राम को जाते समय रास्ते में विश्राम करें और कोई हमारा वस्त्रादि चुरा ले जावे और हम यह कहने लगें कि इस ग्राम में सब चोर बसते हैं, तो यह भूल है । लेकिन, जब हम देखते हैं कि जो संखिया कच्चा लेकर खाजाते हैं, उनमें से प्रति सौ ९९ मर जाते हैं, और कभी कभी सौ के सौ भी मर जाते हैं, तो हमारा यह सिद्धान्त स्थापित करना ठीक होगा कि संखिया खाने से मनुष्य मर जाते हैं ।

"पुनः यदि गाँजा, भाँग, तमाखू, शराब आदि की ठेकेदारी से कोई कोई लोग धनी हो गये हैं और होते जाते हैं, तथा राज्य को भी लाभ होता है-तो यह सिद्धान्त ठहराना कि ठेकेदारी की रीति सर्वसाधारण को लाभकारी है, बड़ी भूल है । यह रीति सर्वसाधारण को लाभकारी नहीं हो सकती । यदि इस नीति से थोड़े से लोग धनी हो जाते हैं, राजकोष में धन आता है, तो करोड़ों मनुष्यों को हानि भी पहुँचाती है । यह कहना भ्रम है कि गाँजा, अफ़ीम आदि नशों को ठेकेदारों के द्वारा मँहगा होने से लोग कम ख़रीदेंगे और देश दुर्व्यसनों से बचेगा । यद्यपि देश सन्तुष्ट होकर नशा तो न कर सकेगा, पर अन्नवस्त्र के भाग का धन भी ठेकेदारों के घर या राजकोष में फेंक आवेगा । जो कोई धर्मशील राजा वास्तव में प्रजा का हितचिन्तक हो और प्रजा को उक्त दुर्व्यसनों से छुड़ाना चाहे तो पहले विदेशी नशों को आने से रोके, देश में पैदा होने वालों को कम पैदा होने दे, नशे की खेती दवा के काम के लायक़ रहने दे, शेष बिलकुल न होने दे, तो अलबत्ता नशे से प्रजा की रक्षा हो सकती है ।" तात्पर्य यह कि जो परिणाम सहज ही सर्वथा पाया जाय वही सिद्धान्त माना जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

दोनों विभागों की उपयोगिता

विदित हो कि तर्क-शास्त्र के दो विभाग परस्पर विरोधी नहीं किन्तु एक दुसरे के आश्रित एवं सहायक हैं । निगमन जिन सिद्धान्तों को लेकर कार्य्यक्षेत्र में उतरता है वे विगमन द्वारा ही प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार विगमन को भी निगमन की आवश्यकता पड़ती है । क्योंकि जब हम किसी सिद्धान्त की सर्वव्यापकता पर विचार करते हैं तब हम बहुत सी घटनाओं का एक एक करके भिन्न भिन्न रूप से यह अनुमान कर लेते हैं कि एक ही स्थिति में वे सब एक विशेष प्रकार से ही घटित होंगी, निदान सृष्टि-नियमों का अन्वेषण करने के लिए विगमन और निगमन दोनों ही आवश्यक एवं उपयोगी हैं ।

तर्क-शास्त्र पर आक्षेप

कोई कोई कहा करते हैं कि तर्क एक भयंकर औज़ार है और मनुष्य (विशेष कर कतिपय वकील लोग) तर्क द्वारा सच्चे को झूँठा और झूँठे को सच्चा प्रमाणित करने की चेष्टा किया करते हैं । परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि तर्कशास्त्र का प्रचार होना अनुचित है । यों तो संसार के सभी अच्छे पदार्थों का दुरुपयोग किया जा सकता है । प्राणियों को जीवित रखनेवाले भोजन और जलवायु भी उनके अनिष्ट के कारण हो सकते हैं । परन्तु इन कारणों से उनका महत्त्व कम समझना अल्पज्ञता है । फिर कोई ऐसा भी आक्षेप किया करते हैं कि, तर्कशास्त्रशिक्षा की कुछ आवश्यकता नहीं । इसके अध्ययन के बिना भी मनुष्य शुद्ध तर्कना कर सकते हैं । यह कथन ऐसा ही है कि व्यायाम न करनेवाले भी कुछ मनुष्य सुडौल, हृष्ट पुष्ट पाये जाते हैं, इसलिए व्यायाम उपयोगी नहीं । सोचने की बात है कि जो सज्जन व्यायाम के बिना भी आरोग्य हैं, वे

व्यायाम करने से क्या और अधिक स्वस्थ न होंगे । इसके सेवन से वे साधारणजन भी आरोग्यता को प्राप्त कर सकते हैं जिन पर इस बारे में विशेष दैवकृपा नहीं हुई है । इसी प्रकार तर्कशास्त्र का अध्ययन सबको लाभ पहुँचाता है । इससे मानसिक शक्ति का विकास होता है, बुद्धि बढ़ती है एवं दूसरे विज्ञानों को समझने की योग्यता प्राप्त होती है ।

इसकी शिक्षा और पुस्तकें

यह विषय कठिन है । अतएव यह विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता । इस विषय को आरम्भ करने से पहले उसे अन्य विषयों की साधारण शिक्षा मिल जानी चाहिए । मैट्रिक्युलेशन तक के पाठक्रम में जो यह विषय नहीं रक्खा गया सो उचित ही हुआ, क्योंकि इस विषय की विशेष आवश्यकता उसी समय होती है जब विद्यार्थी उत्तम शिक्षा प्राप्त करता हुआ विविध विज्ञानों के गूढ़ सिद्धान्तों पर तर्क वितर्क करने लगे । हाँ ! इतना हो सकता है कि तर्कशास्त्र की बारीकियाँ और जटिल सूत्र सिखाने से पहले विद्यार्थी को समय समय पर शुद्ध तर्कना के उदाहरण समझा दिये जावें जिस से प्रारम्भ से ही उसे भ्रमरहित तर्क करने का अभ्यास हो जाय ।

हमारे देश के प्रायः अधिकांश विद्यार्थी किसी विज्ञान के गूढ़ तत्त्व और सिद्धान्तों की खोज में प्रवृत्त नहीं होते इसी लिए वे इस शास्त्र की आवश्यकता भी नहीं समझते । प्रायः देखा जाता है कि इस विषय को वेही विद्यार्थी अध्ययन करते हैं जिन्हें भविष्य में वकालत करने की अभिलाषा हो । क्योंकि क़ानूनी वादविवाद में इस विषय से काम लिया जाता है । कचहरियों का काम विशेष तथा अँगरेज़ी में होने से प्रायः विद्यार्थी इस विषय को अँगरेज़ी में ही सीखते हैं । बस जब हिन्दी भाषा में इस विषय की पुस्तकों की माँग नहीं तब कोई आश्चर्य नहीं कि इधर

लेखकों का ध्यान आकर्षित न हो। हिन्दी-भाषा में तर्कशास्त्र की पुस्तकें भी इनी गिनी हैं। (आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की तर्क-शास्त्र पर हमारे देखने में एक पुस्तक आई है)। सम्भव है कि एक आध पुस्तक इस विषय की और भी हो। परन्तु यह संख्या यथेष्ट नहीं कही जा सकती। हाँ, अब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से हिन्दी की परीक्षायें नियत हो रही हैं। आशा है, इस तर्क-शास्त्र पर भी उदार लेखकों की कृपा-दृष्टि होगी।

उपसंहार

प्रिय पाठक, इस विषय के साथ हम इस लेखमाला को भी समाप्त करना चाहते हैं। यह बात तो हरएक विद्वान् जानता है, कि विद्यादेवी का भंडार अमित है। भिन्न भिन्न उपासक उसे अपनी अपनी भावना के अनुसार सेवन करते हैं। यही कारण है कि पाठ्य विषयों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं। हम इस लेख-माला में थोड़े से ही विषयों पर अपने तुच्छ विचार प्रकट कर सके हैं। विद्यासेवियों को चाहिए कि पहले विद्या देवी के सुगम साधन मातृ-भाषा की आराधना करें। पश्चात् यथाक्रम उसके द्वारा अन्य मुख्य विषयों का साधारण ज्ञान प्राप्त करें। तदनन्तर जिस विषय की ओर विशेष रुचि हो उसके अनन्य भक्त भले ही बनें।

द्वितीय खण्ड

विचारणीय विषय ।

हमारे पाठ्य विषयों की भांति विचारणीय विषयों की भी संख्या निश्चित करनी कठिन है और प्रसंगानुसार कुछ थोड़े से ही विषयों पर विचार किया जा सकता है । साधारणतया विद्यार्थियों के हितार्थ उनकी मातृ-भाषा का विषय बहुत विचारणीय है-साथ ही समस्त भारतीय पाठकों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिये । इसके अतिरिक्त हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थियों की आदतें अच्छी हों, वे आज कल के पाहुनों के समान नकली टीप टाप पसन्द करने वाले न हों, और सांसारिक दुखों में भी धैर्य व दृढ़ता-पूर्वक अपना कर्तव्य करते हुए इस जीवन यात्रा को सुख शान्ति से तय करें ।

---

*लेखक की "भारतीय राष्ट्र निम्र्माण" पुस्तक देखिये ।

भारत-वर्ष में "राष्ट्र-भाषा" का प्रश्न

मानवी आवश्यकताओं में भाषा का स्थान।

सृष्टि-निर्माता ने मनुष्य को स्वभाव से ही समाजप्रिय बनाया है। वह अकेला रहही नहीं सकता। सैकड़े पीछे एकआध व्यक्ति (योगी) को छोड़ सब मनुष्यों को भिन्न भिन्न प्रकार की आवश्यकतायें रहती हैं और अपनी समस्त आवश्यकताओं का पूरा करना किसी एक आदमी के लिए कठिन ही नहीं बरन् असम्भव है। अतः हमें दूसरों का आसरा लेना पड़ता है। और प्राणी तो थोड़े समय माता की रक्षा में रह कर शीघ्र अकेले रहने योग्य हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य को तो तमाम आयु भरही दूसरों से सम्बन्ध रखना होता है।

सम्भव है कि परमपिता ने जो मनुष्य को यह दीर्घ सम्बन्ध रखने के लिए बाध्य किया है उसका हेतु यही हो कि मनुष्यों में परस्पर प्रीति की उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। अस्तु—कुछ भी हो—यह बात संदेहरहित है कि यदि कोई व्यक्ति समाज से सर्वथा सम्बन्ध छोड़ कर अपनी प्रत्येक आवश्यकता अन्न, वस्त्र मकान आदि को पूरा करने के लिए अपने ही श्रम पर निर्भर रहने का विचार करे, तो पूर्व इसके कि उसको किसी अंश में सफलता प्राप्त हो—उसे संसार से छुट्टी लेनी होगी।

यह भी प्रत्यक्ष ही है कि अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करने के लिए, मनुष्य को कुछ चिह्नों का प्रयोग करना होता है। प्रथम अवस्था में मनुष्य यह कार्य मुहँ, हाथ की हरकतों तथा भिन्न भिन्न आकृतियों द्वारा चला लेता है। पर धीरे धीरे उसे सब साधन अपूर्ण मालूम होने लगते हैं। अन्त में प्रत्येक भाव

के लिए शब्द-विशेष नियत करने होते हैं, इस प्रकार सब सुभीते के लिए किसी एक भाषा का आविष्कार होता जाता है। अतएव भाषा मनुष्य को आरम्भ में ही आवश्यक होती है इसके बिना वह कोई महान् कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। भाषा का इतिहास मानव-जाति का इतिहास है और भाषा ही मानव-जाति की उन्नति का प्रधान कारण है।

राष्ट्र का भाषा से सम्बन्ध

मनुष्य समाज-बद्ध होना चाहते हैं, ऐसा करने के लिए एक सम्मेलन-सूत्र की आवश्यकता होती है और यह पूर्ति एक भाषा से ही होती है। यद्यपि राष्ट्र-निर्माण में कई एक बातें सहायक होती हैं—यथा धर्म का ऐक्य भाव, एक राजप्रबन्ध तथा शासन, एक उद्देश्य और रीति, रस्म, व्यवहार आदि की समानता परन्तु इनसे—एक भाषा की अनुपस्थिति रहते हुवे—राष्ट्र नहीं बन सकता। अतः राष्ट्र का भाषा के ऐक्य से अटूट सम्बन्ध है*।

भारतवर्ष की प्राचीन व्यवस्था

जहाँ जहाँ राष्ट्र स्थापित हुआ है तहाँ तहाँ राष्ट्र-भाषा की समस्या अवश्य उपस्थित हुई है। किसी न किसी युक्ति से इस समस्या का सामना करना पड़ा है। भारतवर्ष को भी—जब इसे राष्ट्र का गौरवान्वित अधिकार प्राप्त था—एक राष्ट्रभाषा थी, और वह संस्कृत थी। यद्यपि चिरकाल तक दूर रहने वालों की वाणी में कुछ भेद होता आया, पर राष्ट्र-भाषा बराबर एक बनी रही। यहाँ तक कि पश्चिम से पहले यवन, मुग़ल और पीछे अङ्गरेज़ों का यहाँ आगमन हुआ, और उनके संसर्ग तथा अन्य कारणों से भारतवर्ष की एक राष्ट्र-भाषा स्थायी न रही।

* लेखक की "भारतीय राष्ट्र निर्माण" पुस्तक देखिये।

वर्तमान स्थिति तथा उससे हानि ।

इस समय हमारे प्रत्येक भौगोलिक प्रान्त की न केवल पृथक् पृथक् भाषायें विद्यमान हैं वरन् उनमें दूसरी का भी मिश्रण होता है । हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, तैलंगी आदि भाषाओं में एक एक के हिस्से में एक प्रान्त पूर्णतया आया हुवा नहीं है-कुछ शिक्षित समुदाय अँगरेज़ी बीच में अड़ाता ही है ।

इस वर्तमान स्थिति से देश की क्या कुछ हानि है सो विचार करने वालों से छिपी नहीं है । आज एक अनुभवी बंगाली महाशय विचार पूर्ण पुस्तक लिखते हैं । इसलिए कि देश भर उनके अनुभव से लाभ उठावे, पर लाभ उठा सकते हैं केवल बंगाली । शेष सब उससे वंचित रह जाते हैं । इसी प्रकार अन्य उदाहरण समझे जा सकते हैं । अब यदि कोई विद्यार्थी यह जानने की इच्छा करे कि देश के सब विद्वानों का मत किसी विशेष विषय पर क्या है ? तो उसे राष्ट्रभाषा एक न होने के कारण अनेक भाषायें पढ़नी पड़ें । और साधारण आदमियों की आयु इतनी थोड़ी होती है और कार्य इतना अधिक करना होता है कि उसे अपनी उपर्युक्त इच्छा छोड़ते ही बनती है । सोचना चाहिए कि—

"यदि इंगलैण्ड में सम्पूर्ण वैज्ञानिक चर्चा एक अँगरेज़ी भाषा में न होकर ८, १० भिन्न भिन्न भाषाओं में हो तो क्या वहाँ फैराडे कैल्विन जैसे विद्वान् हो सकते हैं ?" बस यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारतवर्ष में जो विद्वानों की संख्या यथेष्ट नहीं है उसका मुख्य कारण एक राष्ट्र-भाषा का न होना ही है । एवं जब तक यह भाषा-समस्या सरल न होगी, शिक्षा-प्रचार में विशेष आशा रखना व्यर्थ है ।

प्रचलित भाषाओं में प्रधान स्थान किसे देना ?

प्रत्येक भाषा के बोलने वाले अपनी अपनी भाषा के पक्ष में ऐसे दृढ़ हो रहे हैं कि यह निर्णय करते ही नहीं बनता कि उनमें प्रधान स्थान किसे देना चाहिए। देखना यह है कि भारतवर्ष में अधिकतर प्रचलित भाषा कौन सी है अथवा किसमें वे गुण अधिकांश विद्यमान हैं जिनसे वह राष्ट्र-भाषा के लिए छाँटे जाने योग्य होती है। हिसाबी बतलाते हैं कि यहाँ दोतिहाई जन-संख्या हिन्दी समझ सकती है एवं अन्य निष्पक्ष विचारशीलों का मत है कि हिन्दुस्तान-निवासियों की यदि कोई राष्ट्र-भाषा हो सकती है तो वह केवल हिन्दी है-इसके अतिरिक्त और किसी का होना अस्वाभाविक है। क्या ही अच्छा होता, यदि प्रत्येक विवाद ग्रस्त विषय में, भिन्न पक्ष के आदमी कुछ मन-समझोती करके एक मत हो जाते। पर हमारी तो दशा ही निराली है। अन्य भाषा-भाषियों को क्या कहें, ख़ास संस्कृत के कुछ विद्वान् संस्कृत को और निज देशभिमान त्यागी कुछ युवक अँगरेज़ी को ही राष्ट्रभाषा बनाने की कल्पना कर रहे हैं। ये महाशय सर्वथा भूल जाते हैं कि उनके विचार को कार्य रूप में लाने की सम्भावना कितनी क्षुद्र है।

हमारा कर्तव्य

यह सब ध्यान में रखते हुए देश के उदार शुभचिन्तक को चाहिए कि हिन्दी के पक्ष में लोकमत तय्यार करें। इस बात का प्रचार करें कि राष्ट्र-हितार्थ प्रांतिक भाव का कुछ अंश में त्याग करना होगा। और बिना त्याग की महिमा पहचाने किसी कार्य्य में सफलता पाने का विचार स्वप्न मात्र है।

राष्ट्र एक बड़ा कुटुम्ब है जिससे प्रत्येक व्यक्ति (छोटे से बड़े तक) को अपने अपने सामर्थ्यानुसार निज कर्तव्य पालन कर देना चाहिए नहीं तो वह निरा 'कपूत-निखट्टू' उपाधि-धारी होगा। प्रत्येक आदमी की कार्य-संपादन करने की सामर्थ्य उसकी योग्यता पर निर्भर होती है। उचित श्रम-विभाग से ही घर का प्रबन्ध सुसंचालित होती है। इस लिए राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को धनी, विद्वान्, कवि, लेखक, छात्र, पण्डित, जिनको हिन्दुस्तानी कहे जाने में गौरव मालूम होता है, राष्ट्र-भाषा के प्रचार हेतु अपनी अपनी शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए।

लक्ष्मी के कृपा-पात्रों को उचित है कि लेखक और कवियों को प्रोत्साहन देते हुए अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित करावें, मातृ-भाषा के सुसञ्चालित दैनिक अर्धसाप्ताहिक पत्रों और मासिक पत्रिकाओं की संख्या बढ़ावें एवं वाचनालय, पुस्तकालय स्थापित करें, जिनमें एक बार लगाया धन सुदीर्घ काल तक उनका यश-गायन करें।

विद्वानों को चाहिए कि अपनी विद्वत्ता को कोरे वादविवाद में खर्च न करके, दूसरों के हित-साधन-हेतु, हिन्दी-साहित्य को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। साथ साथ धनवानों को भी ऐसा उपदेश देते रहें जिससे वे समय समय पर इनको सहायता करना न भूलें।

आज के दिन कितनी कमी हिन्दी-साहित्य-भंडार में है। सम्पत्ति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान-शास्त्रादि की पुस्तकें ही इनी गिनी हैं। यह पूर्ति तभी हो सकती है जब धनवान और विद्वान् लोग इकट्ठे इस कार्य में योग दें और जनसाधारण भी अपनी उदासीनता का त्याग कर तनिक सहानुभूति की दृष्टि

करें, जिससे भविष्य भारत-सन्तान पुनरपि सुविद्या से अलंकृत हो और हमारी भी राष्ट्र-निर्माण की एक मंज़िल तय हो जावे ।

मातृ-भाषा से प्रेम

एक आख्यायिका

(१)

सन् १८७० ई० में फ्रांस और जर्मनी के बलाढ्य राष्ट्रों में घनघोर युद्ध हुआ था, जिसमें फ्रांसीसियों की विकट पराजय हुई थी। अन्त में फ्रांस ने जर्मनी को हर्जाने के निमित्त एक बड़ी रक़म देनी स्वीकार की एवं उसे अपने दो प्रान्त सदा के लिए जर्मनी के हवाले कर देने पड़े। तब जाकर कहीं युद्ध की समाप्ति हुई। उक्त दोनों प्रान्तों के नाम अलसेस और लैरेन हैं।

तत्कालीन विविध प्रसंगों एवं घटनाओं का वर्णन पढ़ने, विचारने और शिक्षा प्राप्त करने के योग्य है। उनमें से आज हम एक शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख करते हैं। इसके अन्त का समाचार हालका ही होने से विशेष द्रष्टव्य है।

अलसेस प्रान्त निवासी एक फ्रांसीसी महाशय स्वयं अपने उस समय (सन् १८७० ई०) के अनुभव को इस प्रकार लिखते हैं।

'आज का पाठ मैंने याद नहीं किया था इस लिए डरता डरता पाठशाला पहुंचा। परन्तु आज वहाँ की दशा कुछ और ही देखी। सर्वत्र सन्नाटा देखकर मुझे बहुत भय हुआ। स्थान पर बैठते ही क्या देखता हूं कि मास्टर साहब आज अन्य प्रकार के भेष में हैं। हमारी पाठशाला में शिक्षा पाये हुए गाँव के कई

एक बड़े बूढ़े मनुष्य भी बैठे हैं। इतने में हमारे मास्टर साहब गंभीर स्वर से कहने लगे कि "बालको, तुम्हें पढ़ाने का आज मेरा अन्तिम दिन है। बर्लिन (जर्मनी) सरकार ने ऐसी आज्ञा की है कि अलसेस प्रान्त में आज से जर्मन भाषा छोड़ और कोई दूसरी भाषा न पढ़ाई जावे। बस आज से तुम्हारी मातृ-भाषा के पढ़ाने की इतिश्री हो गई। जर्मन भाषा पढ़ानेवाला मास्टर कल से कार्य्यारंभ करेगा। आज तो खूब ध्यान देकर पढ़लो, इतनी मेरी विनती है'। इतना कहते ही मास्टर साहब का कंठ भर आया, फिर कहने लगे कि 'हमारी फ्रेंच भाषा के समान सुन्दर तथा सर्वांगपूर्ण भाषा त्रिभुवन में मिलना कठिन है। हाय तिसपर भी आज यह सदैव के लिए छुटती है। बिना फ्रेंच भाषा के हम फ्रेंच कैसे कहला सकते हैं'। इतना कहते ही मास्टर साहब शोक से व्याकुल हो गये और हम लोग भी मूच्छित से हो गये। धैर्य्य धारण करके फिर मास्टर साहब बोले कि 'इस दशा में भी हम को अपनी भाषा का त्याग नहीं करना चाहिए और इसी अपनी भाषा में ही बोलचाल स्थिर रखना चाहिए, क्योंकि देश किसी भी विपत्ति में क्यों न पड़ जाय जब तक उसकी मातृ-भाषा बनी है तब तक उसके कल्याण की बागडोर उसके हाथ में है, ऐसा सबको हृदय-पटल पर अङ्कित रखना चाहिए' इतना कहकर इस शोकदशा में भी मास्टर साहब ने बड़ी गंभीरता के साथ हम लोगों को पढ़ाना प्रारंभ किया। परन्तु आज का पढ़ाना विलक्षण प्रकार का पढ़ाना था। पढ़ाने के पश्चात् लिखाना प्रारम्भ किया। आज उन्होंने बारंबार यही लिखवाया "फ्रांस, अलसेस, फ्रांस, अलसेस," ।*

* यह लिखाना वैसाही प्रेमभक्तिपूर्ण है जैसा प्रह्लादजी का "राम राम" लिखना ।

हम लोग भी बड़ी भक्ति पूर्वक लिख रहे थे । इतने में १२ बजे की गजर हुई और जर्मन सिपाही परेट करते हुए हमारी पाठ-शाला के निकट से जाने लगे । बिगुल सुनते ही हमारे मास्टर साहब एकदम खड़े हो गये, उनकी चर्या बदल गई, पर उनका स्वाभिमान वैसाही बना रहा, भरे हुए स्वर से बोले "बालको, मित्रो, मैं अब........." । इतना कहते ही गला भर आया । आगे वह कुछ न कह सके । थोड़ी देर पश्चात् कुछ सावधान होकर उन्होंने खड़िया हाथ में लेकर बोर्ड पर मोटे अक्षरों में ये वाक्य लिखे—

"हवीव ला फ्रांस' । इनका अर्थ है कि फ्रांस देश चिरायु हो ।"

यह लिखने के पश्चात् तनिक ठहर गये । भीत का सहारा लेकर हम लोगों की ओर देखते रहे । उनका गला भर आया, मुँह से शब्द नहीं निकलता था । इस कारण हाथ के ही संकेत से "हद हो गई, जाइए" ऐसा सूचित किया ।

(२)

फ्रेंच ग्रन्थकार आलफ्रांस डाँडे के कथनानुसार अलसेस प्रान्त, जर्मन सरकार के आदेश से निज मातृ-भाष खो बैठा । वहाँ के जन-समूह ने इस बात का घोर आन्दोलन किया कि फ्रेंच भाषा फिर से सिखाई जावे, पर उनके सब प्रयत्न निष्फल हुए, और यह सब स्वाभाविक ही था, जब कि जर्मन सरकार का उद्देश यह हो कि इस प्रान्त से फ्रेंच भाषा का आस्तित्व लुप्त हो जावे, और अगली ही पीढ़ी जर्मन लोगों के समान जर्मन भाषा ही जाननेवाले हों । इधर फ्रेंच लोगों ने भी निश्चय रक्खा कि जहाँ तक बने अपनी मातृ-भाषा से परिचित रहें तथा यह दृढ़ आशा बनाये रक्खी कि कभी न कभी तो इसका पुनरुद्धार

कर ही सकेंगे। इस प्रकार सन् १८७० से गतवर्ष तक अनुमान ४२ वर्ष फ्रेंच लोगों के प्रयत्नों को यश न मिला। परन्तु,

जेहि का जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू॥

इस वाक्य की सत्यता को मेटने का कौन दम भर सकता है। सहसा एवं चमत्कारिक रीति से बलाढ्य जर्मन सरकार का निश्चय कैसे टला सो नीचे लिखे मनोहर प्रसंग से विदित होगा।

(३)

अब सन् १९१२ है। अलसेस प्रान्त के एक छोटे से ग्राम में धूमधाम से सजावट की जा रही है। मार्ग सब सुशोभित करके स्थान स्थान पर 'स्वागत' शब्दाङ्कित महराबें खड़ी की गई थीं। अधिकारीवर्ग रोशनी करने के कार्य्य में दत्तचित्त थे। क्यों न हो, आज स्वयं जर्मन सम्राट् सपत्नीक दौरे पर निकले हुए हैं और अलसेस के इस गाँव में पधारने का उनका यह प्रथम ही अवसर था तो ऐसे स्मरणीय समय पर प्रसंगानुकूल तय्यारियाँ करना ग्रामवासियों के लिए स्वाभाविक था।

निश्चित समय पर सम्राट् तथा सम्राज्ञी पधारे। रीत्यनुसार उनके स्वागत किये जाने के पश्चात् महारानी साहिबा बालिकाओं की पाठशाला के निरीक्षणार्थ निकलीं। कन्याओं ने भी सुस्वर गीत से उनका मन आह्लादित किया। महारानी साहिबा ने वर्गों में घूमते घूमते बालिकाओं से कई एक प्रश्न किये। उनमें एक ७-८ वर्ष की तीक्ष्णबुद्धि बालिका भी थी। उसने महारानी साहिबा के प्रश्नों का उत्तर ऐसी उत्तम रीति से दिया कि वे प्रसन्न हो गईं और उसकी पीठ ठोक कर बोलीं "ऐ बालिका! मैं आज तुझसे अत्यन्त प्रसन्न हुई हूँ। तेरी इच्छा हो

सो माँग और उसे पूर्ण हुई समझ" वह बालिका अति मधुर हास्य करती हुई बोली "सरकार, आपकी जो ऐसी ही कृपा है, तो मेरी इतनी ही अकांक्षा पूरी करो कि हमको फिर से फ्रेंच भाषा पढ़ाई जाने का हुक्म मिले।"

यह सुनते ही महारानी साहिबा चकित हो गईं। परन्तु दिये हुए वचन का पालन न करना कितना अनुचित होगा इसका तत्क्षण विचार करके सम्राज्ञी बोली, "पुत्री, ठीक है, तेरी तेरी इच्छा पूर्ण होगी।"

पार्वतीजी का दिया हुआ वचन महादेवजी ने कब व्यर्थ जाने दिया है। जर्मन राज-कर्मचारियों की नीति एक तरफ़ ताक पर रख दी गई और अलसेस के स्कूलों में कुछ घण्टे फ्रेंच भाषा पढ़ाई जावे ऐसी आज्ञा बर्लिन से शीघ्र आ पहुँची और परम पिता ने इस अकल्पित घटना द्वारा अलसेस-वासियों का मनोरथ पूर्ण किया।*

हमारी मातृ-भाषा

मातृ-भाषा के विषय में मत भेद

जगत्पिता को कोटि धन्यवाद है कि हमारे भाइयों में मातृ-प्रेम का भाव जागृत होने लगा है। यह विचार धीरे धीरे फैलता जा रहा है कि मातृ-भूमि के समान मातृ-भाषा की भी यथाशक्य सेवा करना एक परम पवित्र कर्तव्य या धर्म है। हमारी दयालु सरकार भी यह विचार कर रही है कि भारत-

*यह लेख मराठी मनोरंजन के आधार पर लिखा गया है और इसके लिखने में हमें अपने मित्र श्री० मोहनलाल माथुर से सहायता मिली है।

वासियों को उच्च शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा ही दी जावे। परन्तु जनसमुदाय अभी तक इस विषय में एकमत नहीं हुआ कि वे किसको मातृ-भाषा कहें।

शोक है कि जितने समाज से यह आशा थी कि वे औरों के प्रति हिन्दी-भाषा का महत्त्व समझावेंगे उनमें से ही कुछ तो अपने अपने प्रान्तीयता के पक्ष की, समय बे समय, घोषणा कर पृथक् पृथक् राग अलापते रहते हैं और कितने ही हिन्दू उर्दू के प्रेमपाश में फँसे पड़े हैं। इस लेख में हमें अन्तिम पक्षवालों से ही कुछ वक्तव्य है।

क्या उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा है?

हमारा पहला प्रश्न तो यही है कि क्या हिन्दी से भिन्न उर्दू का कोई आस्तित्व है अथवा होना सम्भव ही है? जो निष्पक्ष महशय उर्दू में मग़ज़पच्ची कर चुके हैं और इसके रङ्गरूप के जाल से मोहित नहीं हुए हैं, वे निस्सन्देह यह स्वीकार करने में सङ्कोच न करेंगे कि उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, वरन् हिन्दी फ़ारसी अर्बी की मिश्रित खिचड़ी है। इसकी सृष्टि इस प्रकार हुई कि मुग़ल बादशाहों के समय में उनके स्वभाववश, राजदर्बार का कार्य्य फ़ारसी में होने लग गया था। उनके कर्म्मचारी जब जनसाधारण से वार्तालाप या पत्र-व्यवहार करते थे। अर्थात् उनकी इस भाषा का (जो पीछे उर्दू कहलाई) असली शरीर वाक्य-रचना का ढङ्ग और क्रियायें तो हिन्दी की ही रही परन्तु उसके ऊपर अरबी, फ़ारसी का परदा डाल दिया गया। अब स्थिति यह हो गई है कि जहाँ जहाँ जनसमाज साधारणतया हिन्दी-भाषा-भाषी है वहाँ के शिक्षित मुसलमान अपनी बोल चाल एवं लिखत पढ़त में अरबी, फ़ारसी के शब्दों को

भरमार कर देने में गौरव समझते हैं, जिससे वह भाषा हिन्दी से यथाशक्य भिन्न दीखने के कारण पृथक् नामधारी हो। इस प्रकार कठिन बनाई गई भाषा का ही नाम उर्दू है। उर्दू का अर्थ है लश्कर अथवा फ़ौज की भाषा, जो कई एक भाषाओं के समावेश से बनी हो।

उर्दू-अक्षर-परीक्षा

हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का शब्द-भण्डार जहाँ संस्कृत से सहायता पाता है, वहाँ उनकी लिपि भी थोड़े बहुत भेद से देवनागरी ही है परन्तु उर्दू की तो बात ही निराली है। इसने अत्यन्त सरल तथा स्पष्ट लिपि का तिरस्कार किया और फ़ारसी की अशुद्ध लिपि को अपना कर उसमें नमक मिरच मिलाया।

लिपि की कसौटी यह हुआ करती है कि प्रत्येक भिन्न ध्वनि के लिए पृथक् पृथक् अक्षर विद्यमान हों और प्रत्येक अक्षर एक ही ध्वनि का द्योतक हो, एवं उसमें स्वरों की संख्या भी यथेष्ट हो। वस्तुतः इस परीक्षा में उर्दू लिपि एकदम फ़ेल हो जाती है। इसके दोष हम उन पाठकों को बताने में असमर्थ हैं जिन्होंने "से" "सीन" का 'स्वाद' नहीं चक्खा है। फिर इसकी मात्राओं का तो कहना ही क्या है, इसकी नकेल "ज़ेर" "ज़बर" और "पेश" के हाथ रहती है, जो इसे समय समय पर मनमाने नाच नचाया करते हैं। साधारणतया अपनी छाछ को कोई खट्टी नहीं बताया करता, पर निष्पक्ष महानुभाव दोष को दोष कहने में नहीं हिचकते। हम ऐसे एक ही महाशय की सम्मति उद्धृत् करते हैं, देखिए हैदराबाद के विद्वान् अमात्य मौलवी सैय्यद अली बिलग्रामी स्वीकार करते हैं कि "मुसलमानों में शिक्षा के

कम प्रचार का मुख्य कारण उर्दू के अंडबंड अक्षर ही है। जितनी उर्दू पढ़ने के लिए कम से कम दो वर्ष चाहिएँ उतनी हिन्दी के लिए दो मास बहुत है।"

उर्दू के विचित्र प्रेमी

हमें एक विश्वसनीय पात्र से विदित हुआ है कि एक समाज के एक अग्रणी ने, जो अपने जातीय पत्र का महत्त्व भले प्रकार जानते हैं, उस पत्र के लेने से केवल इस कारण इन्कार किया कि वह उर्दू में न होकर देवनागरी लिपि में है। धन्य है इनके जात्युन्नति के भावों को!

इसी प्रकार एक अवसर पर एक अँगरेज़ी मिडिल स्कूल के उर्दू-प्रेमी हेडमास्टर साहब ने उन अध्यापकों से अप्रसन्नता दिखाई थी जो उस नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा से सम्बन्ध रखते थे। उनका सिद्धान्त था कि शिक्षा-प्रचार का कार्य उर्दू द्वारा ही चलना उचित है। हिन्दी-प्रचार के आंदोल[illegible] में ये महाशय राजद्रोही समझते थे और अपनी इस विलक्ष[illegible] सम्मति को समय समय पर प्रकट करने में संकोच न करते। यह एक विद्यार्थी की स्वयं परीक्षित कथा है। पाठक [illegible]ये, आपको सुन कर अवश्य अत्यन्त खेद होगा कि उक्त दो[illegible] उदाहरण उन हिन्दुओं के हैं जो हिन्दी पढ़ना पढ़ाना तथ[illegible]तृ-भाषा से प्रेम करना पाप समझते हैं। ऐसे ही और भी [illegible]के उदाहरण लिखे जा सकते हैं।

इसका कारण क्[illegible]

[illegible] दोष हमारी शिक्षा-

विचार करने पर पता लगे[illegible]वस्था थी कि पंजाब प्रान्त

पद्धति का ही था। अब तक[illegible] कितने ही सरकारी स्कूलों में

के सब और संयुक्त प्रा[illegible]

प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू द्वारा ही दी जाती थी और पंजाब में तो चौथी, पाँचवीं कक्षा में विद्यार्थी फ़ारसी की भी दो पुस्तकें पढ़ लेते थे। छठी कक्षा में आकर विद्यार्थी को अधिकार होता था कि वह फ़ारसी ले या संस्कृत। अब विचारिए कि विद्यार्थी को एक भाषा की वर्णमाला से भी परिचय नहीं और दूसरी की वह दो पुस्तकें भी पढ़ चुका है। छोटी अवस्था में बालकों को जातीयता तथा धार्मिक बातों का ज्ञान तो होता ही नहीं है, जिस विषय में पास होना सहज दिखलाई दिया उसी को लेना वे ठीक समझते हैं। यही कारण था कि फ़ारसी पढ़ने-वाले विद्यार्थी बुद्धिमान रहे और उनकी संख्या अधिक हो गई। यहाँ तक ही नहीं बल्कि कितने ही हिन्दू ग्रेज्यूएटों का देवनागरी से परिचय ही नहीं हुआ, ठीक ही तो है इनका हिन्दी के प्रति सहानुभूति न रखना और उर्दू से प्रेम दिखलाना स्वाभाविक है। क्या हम नहीं देखते हैं कि आज दिन अनेक हिन्दू उर्दू के बड़े बड़े ग्रन्थ और अख़बार प्रकाशित कर रहे हैं। हाँ इनमें से कुछ अपना कर्तव्य हिन्दी की ओर जानने भी लगे हैं पर क्या करें लाचार उर्दू की सेवा ही से जीविका प्राप्त करनी पड़ती है।

हिन्दी का भविष्य

बड़े हर्ष की बात है कि अब स्थान स्थान पर हिन्दी-प्रचार की चर्चा चल रही है। समाज की घोर निद्रा को दूर करने के लिए नेतागण तैयार हो रहे हैं और बड़े बड़े शहरों में "नागरी-प्रचारिणी सभायें" और "हिन्दी-साहित्यसम्मेलन" स्थापित हो रहे हैं। सरकार ने भी 'उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति' में आवश्यकीय परिवर्त्तन कर प्रशंसनीय कार्य किया है। अब यह नियम हो गया है कि पंजाब के स्कूलों में प्रारम्भिक

शिक्षा उर्दू में दी जाती है उनके विद्यार्थियों को चौथी पाँचवीं कक्षा में फ़ारसी न पढ़ाकर हिन्दी का अभ्यास कराया जाता है। इस तरह पाँचवीं कक्षा पास करनेवाले बालकों को हिन्दी उर्दू दोनों भाषाओं का बोध हो जाता है। अब पूर्ण आशा की जाती है कि भावी हिन्दू समाज तो अवश्य हिन्दी के महत्त्व तथा उपयोगिता को पहचान इसकी यथोचित सेवा से कदापि विमुख न होगा। भारत-जननी के सपूतो, सचेत हो, जल्दी आओ, हम भी अपने समर्थ्यानुसार तन मन धन से इस पवित्र कार्य में योग दें और मातृ-ऋण से उद्धार पावें।

हिन्दी का विस्तार

हिन्दी का केन्द्र संयुक्तप्रान्त है जहाँ तुलसीदास, सूरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे महात्माओं ने जन्म लेकर मातृभाषा का मान बढ़ाया है। यहाँ से इसकी लहरें भारतवर्ष में चहुँओर फैली हैं। यहाँ तक कि इसकी भौगोलिक सीमायें बंगाली, मदरासी महाराष्ट्र, गुजराती, राजपूतानी, पंजाबी, कशमीरी, नैपाली सब भाषओं से जा मिली हैं अर्थात् हिन्दी इन सबका मिश्रण-स्थल हो गया है। यद्यपि ये भाषयें आपस में एक दूसरे से पृथक् पृथक् हैं तथापि ये सब एक सम्मेलन-सूत्र में बंधी हुई हैं और हिन्दी से ज़रूर कुछ न कुछ मिलती जुलती हैं। भारतवर्ष में भाषा दस दस बारह बारह कोस पर बदल जाती है, व्रज से चाहे जिस ओर चले जाइए थोड़ा थोड़ा भेद बराबर दृष्टिगोचर होता रहेगा यहाँ तक कि बंगाल में पहुँच कर व्रज की हिन्दी बंगाली बन जाती है, और महाराष्ट्र प्रान्त में जाकर मराठी का रूप धारण कर लेती है। परन्तु एक विनोदशील विद्वान् ने सत्य कहा है कि चाहे उसे बंगालिन के भेष में देखिए, चाहे उसे पारसिन की साड़ी और रूमाल पहने देखिए, चाहे पश्चिम

के बड़े बड़े घाँघरे और ओढ़नी के घूँघट में पाइए, या पायजामे और दुपट्टे की पोशाक में यवनग्रहमें देखिए, आप अनायास पहचान सकते हैं कि यह आपकी चिर परिचित प्यारी हिन्दी ही तो है। अब मैं एक प्रसिद्ध कवि के वाक्य आपको भेंट करता हूँ।

हिन्दी हिन्दू* हिन्दुस्तान

चहहु जो साँचहु निज कल्याण, तो सब मिल भारत सन्तान।
जपो निरन्तर एक ज़बान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

रीझै अथवा खीजै जहान, मान होय चाहे अपमान।
पै न तजो रटबे को बान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

जिन्हें नहीं निजता को ज्ञान, वे जन जीवित मृतक समान।
यातें गहहु यह मंत्र महान्, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

भाषा भोजन भेष निदान, तजै न अपनो जोइ मतिमान।
बस समझो सौभाग्य प्रमान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

धनि है वह धन धनि वे प्रान, जो इन हेतु होंय कुरबान।
यही तीन सुख सुगति निधान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

तिहूँ लोक पर पूज्य प्रधान, करि है तब त्रिदिव इव मान।
सुमिरो तो, नहिं समय सुजान, हिन्दी--हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

सरबसु जाइ दीज़िए जान, सब कछु सहिये बनि पाषान।
पै गहि रहिए प्रेम प्रमान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

तब ही सुधरै जनम निदान, तब ही भलो करैं भगवान।
जब रहि है निशदिन यह ध्यान, हिन्दी—हिन्दू—हिन्दुस्तान॥

*इस पद्य में 'हिन्दू' शब्द से भारतीय (हिन्दुस्थानी) का अर्थ लेना चाहिये।

हिन्दी—भाषा की व्यवहृता लिपि का महत्त्व भी सुन लीजिए ।

दोहा

चार वेद आते बने, मानहु गुण की खान ।
माता तू जगदम्बिका, देवनागरी वान ॥

महिमा अपार जाकी पारहू न पावैं कवि,
गावैं ज्यों गुबिन्द गुन गीता मान सागरी ।
उर में उरोधन में भरे हैं अनन्त शब्द,
सकल जहान बीच शोभै मुख्य रागरी ॥
वेद औ पुरानन में भेद नहिं जान्यो जात,
जाके पढ़े पण्डित कहावें बड़ भागरी ।
देवता मनुष्यन की मानी जीव जन्तुन की,
आदि है भवानी बाक बानी देवनागरी ॥ १ ॥

हमारी आदतें

हे प्रभो ! हमारी रक्षा कीजिए, हम अल्पज्ञ हैं, बुद्धिहीन हैं, अपना हित अनहित नहीं पहचानते । तभी तो अनेक ऐसे काम कर बैठते हैं जो हमें अन्त में दुःखदायक होते हैं और जिनको हम पश्चात्ताप रूपी प्रायश्चित्त से धो डालना चाहते हैं ।

आदतों पर हमारा अधिकार

पाठक ! आप किसी १५, १६ वर्ष की आयु के अफ़ीम या तमाखू सेवन करनेवाले से पूछिए कि भाई यह क्यों खाते हो,

इससे क्या लाभ है। निश्चय वह यही कहेगा कि 'लाभ इसमें क्या होता, आदत पड़ गई'। आप उसे इन पदार्थों की हानि बताइए और उससे इन्हें छोड़ देने के लिए आग्रह कीजिए तो सम्भव है कि यदि उसके ध्यान में आजाय तो वह इनके प्रयोग को छोड़ने का प्रयत्न करे और कुछ काल पश्चात् बिल्कुल छोड़ दे।

अब यदि आप २५, ३० वर्ष की आयुवाले से ऐसा कहेंगे तो आप देखेंगे की अच्छी तरह यह समझ जाने पर भी कि अफ़ीम या तमाखू से उसके शरीर को बहुत हानि पहुँच रही है वह एक दम इस आदत को छोड़ डालने में असमर्थ है। उसको बड़ा ज़ोर लगाना पड़ता है। वह लगातार इसकी चिन्ता में रहने पर भी शायद ही कई महीनों में जाकर छुटकारा पावे।

परन्तु यदि आप उपर्युक्त प्रकार की बातें किसी वृद्ध महाशय से कहेंगे तो इसमें सन्देह ही क्या कि आप उपहास के पात्र बनेंगे। क्योंकि मनुष्यमात्र यह जानते हैं कि जिसने तमाम आयु भर एक पदार्थ विशेष कर प्रयोग किया है उसके लिए अब बुढ़ापे में उसे छोड़ना नितान्त कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

पाठकगण! यह क्या? आइए तनिक विचार तो करें, ये बुरी आदतें, ये बन्धन, जिनसे हम अत्यन्त इच्छा रखने पर भी छुटकारा पाने में असमर्थ हैं, किसने बना दिये। हम इनमें कैसे जकड़े गये। क्या कोई फरिश्ता यह षड्यन्त्र रच गया। अथवा क्या कभी ऐसी बात पर भी विश्वास हो सकता है कि ये काँटे कभी हमने ही बोये हों और अब बढ़ कर इतने बड़े हो गये कि हम इनको काट फेंकने की यथोचित शक्ति नहीं रखते।

हर एक आदत ऐसी ही चीज़ है कि जिसे बाल्यावस्था में चाहे हम ग्रहण करें अथवा न करें, यह सर्वथा हमारे अधीन है। परन्तु एक बार ग्रहण कर चुकने पर बड़ी अवस्था में हम उसे आसानी से छोड़ नहीं सकते, हमारी इच्छा हो या न हो, पर इसका फल हमें भुगतना ही पड़ता है।

एक दृष्टान्त

एक विद्वान् ने इस विषय को सरल करने के हेतु कथा के प्रसङ्ग से समझाया है—

किसी मनुष्य ने एक सिंह के बच्चे को पालना आरम्भ किया। वह नित्य बल पकड़ता गया। मालिक ने कुछ ध्यान न दिया। सदैव उसे स्वेच्छानुसार रहने दिया। होते होते एक दिन शेर ने भयानक रूप धारण किया। मलिक बहुतेरा ज़ोर लगा कर बैठ रहा, शेर किसी भाँति वश में न आया। अन्त में मालिक को उसका शिकार होना ही पड़ा।

भाइयो! इसे कोरी कहानी ही न समझो। इसकी लाभदायक शिक्षा को अपने हृदय में स्थान दो जिससे तुम्हारा कल्याण होवे।

आदतें कैसे बनती हैं

अच्छा हो या बुरा, छोटे से छोटा काम भी, जो हम करते हैं, उसका हमारी आत्मा पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। दूसरी बार ऐसा काम करना ज़्यादा आसान और आत्मा पर ज़्यादा पुष्ट प्रभाव डालनेवाला होता है। बार बार करने से काम आपही आप होने लगते हैं, या यह कहिए कि हमें करना ही पड़ता है क्योंकि इनका प्रभाव आत्मा पर बहुत पुष्ट हो

जाता है। इसी को हम कहते हैं कि आदत पड़ गई। इसका उदाहरण लीजिए।

जो बालक आज एक कलम चुराने का साहस करता है, क्या आश्चर्य यदि वह न रोका जावे तो कुछ दिन पीछे एक किताब भी ले भागने की हिम्मत कर दिखावे और धीरे धीरे पक्का चोर बन जाय। इससे यह न समझिए कि उपर्युक्त सिद्धान्त बुरी आदतों के ही विषय में घटता है। नहीं नहीं, हमारी अच्छी आदतें भी इसी प्रकार बनती जाती हैं। जो बालक नित्यप्रति दोनों समय संध्या हवन करता है वह बड़ा होकर इस कार्य में कभी चूक नहीं सकता।

कर्म फल

मनुष्य कितना ही मन-समझौती करले कि क्या हुवा, बुरा काम एकबार करने से कुछ नहीं बिगड़ता, एक अपराध तो क्षमा हो ही जाया करता है फिर मैं तो ऐसा छुप कर करूँगा कि कोई देख ही न पावेगा। हम चाहे जैसे अपने मन को बहकालें, किये हुए कार्य का प्रभाव हमारे आत्मा पर पड़ेगा—फिर पड़ेगा और पड़े बिना नहीं रहेगा, चाहे जितने एकान्त स्थान और अँधेरी कोठरी में चले जावें सर्वव्यापी परमात्मा से हम नहीं छुट सकते। उसके रजिस्टर में तो हमारा कार्य अवश्य दर्ज होगा, फिर वह हमारे आत्मा तो हरदम हमारे साथ विद्यमान है। हमारे जीवन-पृष्ठ पर तो वह अंकित हुए विना नहीं रहेगा।

हमारा आचरण

इसी प्रकार हमारे एक एक काम करने से हमारे आचरण रूपी महल की एक एक ईंट रक्खी जाती है। जब मकान बन

कर पूरा तय्यार हो जाता है तब हम आश्चर्य करने बैठते हैं कि यह कौन बना गया है। बस आज के दिन हमारा स्वभाव, हमारा आचरण, आदतों का समूह, खोटा खरा जैसा भी है हमारा ही बनाया हुआ है। इसके कर्ता धर्ता सब प्रकार से हम ही हैं।

स्वदेशोन्नति के लिए पहली सीढ़ी

आत्मोन्नति

देशोन्नति

हे दीनरक्षक, पतितपावन प्रभो! आप वह शक्ति प्रदान कीजिए जिससे हम, गत-वैभव भारतवासी, एक बार पुनरपि उन्नति के उन्नत शिखर को अपना लक्ष्य मानते हुए धैर्य के साथ एक एक मंजिल तै करके उस अपने लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु उद्योग कर आलसी और निरुत्साही न रहें।

जगत्पिता की असीम कृपा से इस बीसवीं शताब्दी में चहुँ-ओर देश देश, प्रान्त प्रान्त, नगर नगर से 'देशोन्नति' की ध्वनि कर्णगोचर हो रही है, पिछले इतने दिनों में पश्चिम को देदीप्यमान कर अब पूर्व को भी देशोन्नति देवी निज दर्शन का साक्षात् अनुभव कराने लगी है। यह कुछ कम आनन्दसूचक समाचार नहीं और पूर्वी देशवासी भी अपनी अपनी श्रद्धानुसार भेट-पूजा की सामग्री ले ले कर तय्यारी कर रहे हैं।

जापान इसके आनन्द में रातदिन मग्न है। चीन भी इसके हेतु मार्ग साफ़ करने में कटिबद्ध है, परन्तु दीन-देश-बन्धुओ!

तुम्हारा भी करवट बदलने का समय आया या नहीं! ये देखो, वर्ष भर के अन्तर्गत होनेवाले अनेकानेक सभा-समाजों के अधिवेशन प्रभात के आगमन की सूचना दे रहे हैं। जागो! जागो!

तीन सीढ़ियाँ

यदि दैववश भेंट-पूजा के लिए तुम्हारे पास कुछ और नहीं तब भी इस अधिष्ठात्री देवी के स्वागतार्थ तीन क़दम आगे बढ़ो उठो, जागो, सावधान हो!

(१) आत्मोन्नति, परिवारोन्नति, जात्युन्नति।

ये तीन मंजिलें तै करने के लिए प्रत्येक देश-हितेच्छु को उद्योग करना होगा।

आत्मोन्नति

कई एक कमरों के मिलने से महल बनता है और महल की सर्वाङ्गसुन्दरता अन्ततः उन ईंटों पर निर्भर होती है जिनसे उस के कमरे बने हैं, ठीक इसी प्रकार कतिपय भिन्न भिन्न जातियों के समुदाय से देश बनता है और देश (राष्ट्र) की उन्नति अन्ततः उन व्यक्तियों पर अवलम्बित होती है जिनके सङ्गठन से उसकी जातियाँ निर्म्माण हुई हैं। बस, व्यक्तिगत आत्मोन्नत ही देशोन्नति की पहिली सीढ़ा अथवा मञ्ज़िल है।

जितना अधिक आत्मोन्नति किसी व्यक्ति ने की है उतनी ही अधिक योग्यता एव सामर्थ्य देशोन्नति करने की उसमें हो जाती है। वरन् उतना देशोन्नति वह कर ही चुकता है।

पूज्यपाद श्री ० स्वामी रामतीर्थजी का सिद्धान्त—

"जो लोग अपना ऋण अपने आप को पूरी तरह से अदा करते हैं उनके तीनों ऋण (१ —परमेश्वर की तरफ़, २ —मनुष्य

मात्र की तरफ़, ३-देशभूमि की तरफ़) खुद बखुद अदा हो जाते हैं। जो ऐसा करते हुए-अपना ऋण अपने आपको चुकाते हुए अपने तईं रूहानी वा अकली बचपन की हालत से आगे बढ़ाते हैं -मसलन् कुछ नहीं तो एम० ए० या शास्त्री की सी लियाकत पैदा कर ली, वे जिस हद्द तक रूहानी या अक्ली ज़ोर पैदा कर चुके हैं उसी अन्दाज़ से क़ौम की गाड़ी को तरक्की की सड़क पर आगे खींच सकते हैं"।

महाशयो! इन शब्दों को फिर पढ़ो' फिर विचारो, इनमें कितना सदुपदेश भरा है। आगे चल कर ये महात्मा अपने कथन की पुष्टि में क्या ही सरल दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। ज़रा ध्यान देकर सुनिए—

"जो शख्स मैदान में खड़ा होकर निगाह फैलाए तो थोड़ी दूर तक देख सकता है और चंद ही आदमियों को अपनी आवाज़ पहुँचा सकता है लेकिन ऊंचे पर या पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर चारों तरफ़ बहुत दूर आवाज सुना सकता है"

ये ही विचार एक दूसरे तत्त्वदर्शी ने इन शब्दों में प्रकट किए हैं-

"कोई शक्स जितना अपने मन को सीधे मार्ग पर लाने में फलीभूत होता है उतना ही वह औरों को भी उदारता और उपकार की दृष्टि से उसी कल्याणदायक अवस्था की ओर ले आता है"। इसका Converse (विपरीत) भी सदैव सत्य प्रमाणित होता है अर्थात् जिस व्यक्ति ने स्वयं आत्मोन्नति नहीं की है जो उलटे मार्ग पर चल रहा है उससे दूसरों का कल्याण नहीं हो सकता। स्वयं नेत्रहीन दूसरे अन्धे को क्या मार्ग बताएगा?

उदाहरण ।

कल्पना करो, एक ओर एक अनाचारी उपदेशकजी खूब ही ज़ोर ज़ोर से, परन्तु केवल स्वार्थ से ही प्रेरित हुए सदाचार पर व्याख्यान दे रहे हैं, अपनी मधुर भाषा के शब्दों की ध्वनि से श्रोताओं के कानों के परदे कम्पायमान कर रहे हैं। क्या कोई विचारशील यह कहने का साहस कर सकता है कि ऐसे उपदेश से श्रोताओं को कुछ आध्यात्मिक सुख या शान्ति मिलेगी? कदापि नहीं। बहुतेरे श्रोता तो वहीं सभामंडप में उपदेशक की हँसी उड़ाने लगते हैं Doctor! heal thyself अर्थात् वैद्यजी पहले अपना तो इलाज करलो। शेष श्रोता भी प्रायः चलते समय उपदेश का बृहदंश वहीं झाड़ जायंगे, और कोई विरला ही उसे धारण कर सकेगा।*

अब दृश्य का दूसरा पहलू भी देखिए। एक सदाचारी संत महात्मा किसी नगर में पधारते हैं। नागरिकों से विशेष वार्तालाप नहीं करते। कदाचित् इनको वहाँ की भाषा ही नहीं आती, तथापि इनके दर्शन करनेवालों पर इनकी आकृति, इनकी चालढाल का प्रभाव विचित्र ही पड़ता है, जो एक दो शब्द ये महात्मा उच्चारण करते हैं उनमें बिजुली का सा सुधारक असर भरा होता है। औरों की क्या कहें, कोई पापात्मा भी इनके सम्मुख कुविचार मन में नहीं ला सकता। लाये कैसे, इनके आत्मा से वे तीव्र किरणें निकल रही हैं जो आगन्तुकों के कम उँचाईवाले विचारों को एक दम फूँक उड़ाती हैं।

---

*इस उदाहरण से यह न समझना चाहिए कि लेखक का अभिप्राय उपदेशकीय कार्य की निंदा करना है--इसका तात्पर्य केवल इतना है कि उपदेशक सदाचारी और अनुभवी होना चाहिएं अन्यथा अभीष्ट सिद्ध न होगा।

कहावत प्रसिद्ध है—

पारस का अरु सन्त का, बड़ा आँतरा जान ।
वह लोहा कञ्चन करे, यह कर ले आप समान ॥

धन्य हैं ऐसे महात्मा सन्त और धन्य हैं वह भूमि जो इनके चरण से पवित्र है ।

इस संसार में Example is better than precept की लोकोक्ति सदैव चरितार्थ होती आई है । मनुष्य केवल यही नहीं चाहते कि उन्हें कोई बतला दे कि कौन कौन कार्य करना है वरन यह भी चाहा करते हैं कि वे कार्य कर दिखाये जावें । अतएव जब तक कोई व्यक्ति किसी कार्य को स्वयं करके नहीं देखता तब तक उसकी प्रेरणा प्रायः निष्फल होती है ।

आशा है कि सुविज्ञ पाठक इससे यह तत्त्व भलीभाँति समझ गये होंगे कि जिस व्यक्ति ने स्वयं आत्मोन्नति नहीं की है वह अपने देश-बन्धुओं की उन्नति (जिसपर ही देशोन्नति अवलम्बित है) कदापि नहीं कर सकेगा । अतः जो चाहते हैं कि देश उन्नति-आरूढ़ हों वे प्रथमतः अपनी अपनी आत्मोन्नति करने में यत्नशील बनें ।

आजकल के पाहुने ।

समय की गति

अहाहा ! परमपिता परमात्मा की माया विचित्र है । प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जो कल था सो आज नहीं । अनुमान बतलाता है कि जो आज है सो कल नहीं होगा । इसी प्रकार नित्यप्रति दीन दुनियाँ की कलकल चली ही जाती है और

समय धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता से अपना काम करता रहता है। एक को बनाता है, एक को बिगाड़ता है, किसी को नीचे गिराता है, किसी को ऊपर चढ़ाता है। पर करता है सब कुछ मन्द गति से। उद्दंडता से कभी काम ही नहीं लेता क्योंकि धैर्य्य इसका स्वाभाविक गुण ठहरा।

अतिथि की सूचना

श्रीमान् महोदय लार्ड कारमाइकेल के एक अत्यन्त सुप्रशंसित गुण का समाचार, जिसका मैं आगे उल्लेख करूँगा, अमृत-बाज़ारपत्रिका में पढ़ कर मन में अनेक भाव उठे हैं।

अहा! आज हमारे प्राचीन प्यारे अतिथि शब्द का प्रयोग कितना कम हो गया है। कदाचित् यह पण्डितों के ही काम का रह गया। कारण आज संसार में अतिथि ही थोड़े रह गये हैं। आनेवाले पहले ही अपनी तिथि की सूचना दे देते हैं। सम्बन्धानुसार कोई दो दिन पहले, कोई चार दिन पहले, यहाँ तक कि किसी किसी को सूचना तो कई कई महीनों पहले हो जाती है। अवसर-विशेष पर उचित होते हुए भी साधारणतया यह सूचना क्या है मानों इस विषय का संदेशा है कि अपनी असली हालत छुपा लो जिससे आनेवाले महाशय की नज़र बाहरी टीपटाप पर ही पड़े।

यथार्थ ज्ञान का अभाव

कौन नहीं जानता कि बहुधा जब मित्र एक दूसरे के यहाँ मिलने जाते हैं तब भोजन बाज़ार से ही मँगा दिया जाता है। घर पर ही यदि कराना हो तो वस्तु विशेष बनवा दी जाती है, जिससे आनेवाले महाशय घर की दशा का यथार्थ बोध प्राप्त न कर सकें। स्कूलों तथा कालिजों में पढ़नेवाले मित्र बहुत समय तक पास रहने पर भी एक दूसरे का विशेष परिचय प्राप्त करना सभ्यता के विरुद्ध समझते हैं।

प्राचीन अतिथि हमें आत्मिक विषयों का ज्ञान कराया करते थे और हम भी उनकी साधारण जल-भोजन से, जो उस समय तय्यार होता था, सेवा किया करते थे, परन्तु अब तो शेकहैंड कया (हाथ मिलाया) कुछ कुशल-क्षेम पूँछी और बस। दिल बहलाने के लिए भी ताश शतरञ्ज चाहिए—वाह रे समय का परिवर्तन !

जातीय रीति रस्म

सबकी आर्थिक दशा एक समान नहीं होती। तथापि किसो बिरादरी में कोई ही धन्यवादार्ह होगा जो विवाह आदि के समय कोई बाहरी चमक दमक दिखाने में अपने दूसरे भाइयों से एक कदम पीछे रहना पसन्द करे। चाहे उस समय उसको इतना ऋण क्यों न लेना पड़े जो वर्षों मत्थे मढ़ा रहे। घर में आभूषण नहीं तो माँगे ही सही, पर होने अवश्य चाहिए। क्या यह सब नकली कार्रवाई नहीं है ? हाँ, है तो, पर हमारी तो प्रकृति ही ऐसी हो गई कि लोकापवाद से बचने के लिए अपने आत्मिक विचारों को सर्वथा मारने के लिए उद्यत रहते हैं। इसीका तो यह फल है कि आज भारत-माता निर्बल आत्मावाली सन्तान से परिपूर्ण दीख पड़ती है। शोक ! इस जातोय दूषण को मैंने संकेतमात्र से दिखाया है। देशहितैषी पुरुष सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर आकर्षित करें और परोपकार के भागी हों।

नकली कार्रवाई

आजकल नकली चीज़ों की बेतरह धूम मची है। इसका बाज़ार ख़ूब गरम है। नकली रेशम, काफ़ूर, शहद बनाया जा रहा है। नक़ली हीरे के वास्ते प्रयत्न हो रहा है। तब क्या आश्चर्य कि आजकल पाहुने भी नकली ही कार्रवाई पसन्द

करें । परन्तु ध्यान रहे कि नकली चीज़ों के बनाने में जहाँ पदार्थ-विद्या की उन्नति प्रतीत होती है वहाँ इनको असली चीज़ों का स्थान देने में भी तो बेईमानी ही स्पष्ट है । इसी प्रकार असली हालत को छिपाने तथा बनावटी धर्म के प्रचलित करने में चतुराई चाहे जितनी समझी जावे परन्तु है इसमें कपट ही ।

अब निम्नलिखित वृत्त के दो उदाहरण से यह भली भांति ज्ञात हो जायगा कि अतिथियों से ही देशहित की सम्भावना है । प्राचीन समय का तो कहना ही क्या है । उस समय तो हमने बनावटी दशा दिखानेवाली सभ्यता का स्वागत ही नहीं किया था ।

सच्चे अतिथि से कल्याण

जगदीश्वर को कोटिशः धन्यवाद है । हमें अब भी इस बात का अभिमान प्राप्त है कि कभी कभी कुछ महानुभाव सज्जन देश-दशा का यथार्थ अनुभव प्राप्त करने के लिए बिना तिथि नियत किये दौरा करना पसन्द करते हैं यद्यपि ऐसा करने में उनको बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है ।

बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर श्रीमान् लार्ड कारमाइकेल महोदय को, जब ये मदरास में थे, यह इच्छा हुई कि रेलगाड़ी में तीसरे दर्जे के यात्रियों के कष्ट का यथार्थ बोध प्राप्त करें । आप भलीभाँति जानते थे कि यदि किसी नियत की हुई तिथि पर गवर्नर की हैसियत से परीक्षा करने गये तो मनोरथ कदापि सिद्ध न होगा । अतः श्रीमान् एक दिन अकस्मात् ही साधारण भेष में और अकेले ही जाकर निज नेत्रों से सब हाल देख आये ।

इसी प्रकार एक और अवसर पर श्रीमान् एक बाज़ार को अवलोकन करने गये, जिसकी बाबत शिकायत थी कि पुलिस देखती भालती नहीं । बाज़ार देखकर आप पुलिस स्टेशन पर

गये। कुछ पूछ ताछ कर अपनी आज्ञा निरीक्षण-पुस्तक में दर्ज कर आये। उपस्थित सज्जनों में से किसी को यह विचार नहीं हो सकता था कि स्वयं गवर्नर महोदय पधारे हैं, परन्तु हस्ताक्षर देख सब चकित रह गये। धन्य है! श्रीमान् को! अपने प्रजा के हितार्थ अपने सब आराम को तिलांजलि दे दी।

श्रीमान् लार्ड हार्डिंग महोदय भी कलकत्ते में पधारने के थोड़े समय पश्चात् ही इसी प्रकार एक बोर्डिंगहाऊस अर्थात् छात्रों के निवासस्थान को दशा का यथार्थ बोध कर अपने इस गुण का परिचय दे चुके हैं।

अब तो हमें पूर्णतया आशा करनी चाहिए कि अन्य कर्मचारी इन उच्च पदवीप्राप्त अफ़सरों का अनुकरण कर देशहित और गवर्नमेंट की नामवरी करेंगे। एवं यह चरित्र हमारे जातीय बन्धुओं के लिए भी उचित शिक्षा दायक होगा।

मानवीं सुख-दुःख पर एक दृष्टि

सूर्यदेव का प्रकाश उन्हीं के लिए है जो नेत्र खोले देख रहा हो अन्धों के लिए या उनके लिए जो चक्षु रखते हुए भी नहीं देखते, एक क्या अनेक सूर्य भी हों तो प्रकाश नहीं दे सकते। उनके लिए सर्वत्र अन्धकार ही है। इसी प्रकार सृष्टिकर्ता जगदीश्वर ने हमारे सुख के लिए अनेक पदार्थ रच दिये हैं तो भी मूर्ख लोग सदैव दुःख का ही अनुभव किया करते हैं।

सुख का प्रश्न

बहुधा मनुष्य इस बात की शिकायत करते सुने जाते हैं कि परमात्मा ने हमें निरे दुख ही दुख दिये हैं, दुःख भोगने मात्र को ही हमें इस संसार में भेजा है, इत्यादि। ऐसी अवस्था

में यह विचार मन में उठे बिना नहीं रहता कि परमात्मा कृपालु और दयालु है तो उसने हमें दुःख क्यों दिये ।

क्या कोई भी सहृदय पाठक क्षणमात्र के लिए यह कल्पना कर सकता है कि पिता अपने पुत्र को दुःख पहुँचाने की इच्छा रक्खे। हम संसार में प्रत्यक्ष इस का विपरीत अनुभव कर रहे हैं सदा ही देखने में आता है कि पिता अपने बालबच्चों के लिए निरन्तर सुख पहुँचाने के उद्योग में लगा रहता है। फिर हम क्यों कर मान लें कि परमपिता जगदीश्वर सर्व सद्गुणों का भण्डार होकर अपनी प्यारी सन्तान (मनुष्यमात्र) को दुःख सागर में डुबोना चाहता है। अतः क्या ये अनुमान बहुत कुछ ठीक नहीं हो सकते—

(१) मनुष्य स्वयं ही अपने दुःख सुख का विधाता है अथवा यों कहो कि मनुष्ययोनि कर्मयोनि है न कि भोगयोनि।

(२) दुःख बहुत करके तो काल्पनिक हैं और जो कोई वस्तविक भी हैं तो वे हमारे हित के ही लिए हैं चाहे हम अपनी अल्पज्ञता के कारण इसको न समझ सकें।

पाठकगण! आइये थोड़ी देर इस समस्या पर शान्तिचित्त होकर विचार करें। ये प्रश्न कुछ ऐसे वैसे नहीं, बड़े गम्भीर हैं। इन्हीं पर तो हमारा जीवन एक प्रकार से अवलम्बित है।

हमारी भावना

जैसी किसी चीज़ की शकल सूरत होती है वैसी ही उसकी परछाँई पड़ा करती है। जैसे रंग का चश्मा चढ़ा कर हम देखते हैं वैसा ही रूप आस पास की चीज़ों का नज़र आता है। बस महात्माओं का यह कथन प्रत्यक्ष सत्य है, "जैसे तुम तैसी तुम्हारी दुनियां" यदि हमारा आत्मा शान्त है और विचार भी

पवित्र हैं, मन में भी मैल नहीं, अपने को संसार के हित आया समझते हैं, तो प्रायः हमें दुःख नहीं हो सकता। सच्चा सुख धन में नहीं है। बहुतेरे लक्ष्मीपात्र सुख की खोज करते हैं और नहीं पाते। वास्तविक सुख सन्तान में भी नहीं। सन्तानवालों को भी बहुधा दुःख पाते देखते हैं। असल बात तो यह हैं कि सच्चा सुख बाहर के किसी भी पदार्थ विशेष में नहीं। वह तो अन्दर आत्मा में है। जिसको वहाँ नहीं मिलता उसको कहीं भी नहीं मिलेगा। जो चीज़ हमारे अन्दर है उसकी बाहर खोज करना सर्वथा व्यर्थ है।

निम्न लिखित वृत्तान्त ध्यानपूर्वक विचारणीय है। एक विज्ञानवेत्ता विद्यार्थी अपनी धुन में जङ्गलों में घूम रहे थे। चलते चलते एक मैदान में आये वहाँ घास फूस के निकट कुछ जल ठहरा हुआ था। आपने परीक्षार्थ उस जल की एक शीशी भरी और आनन्द में मग्न हो उसे कुछ देर देखते रहे, फिर एक कुपढ़ गँवार से, जो पास ही खड़ा था, इस तरह कहने लगे—

अहाहा! मित्र, देखते हो? "इस तलाई में परमात्मा की अद्भुत रचनाओं के सैकड़ों ही उदाहरण वर्तमान हैं। केवल वे साधन चाहिएँ जिनसे हमें इनका बोध हो सके" इस पर वह मूढ़ मति उदासीनता से बोला 'अज़ी बाबू साहब! मुझे तो पहले से ही मालूम है कि यहाँ मेंढक घने ही हैं पर पकड़े जायँ तब ना'।

सज्जन महाशयो! जिस स्थान पर एक विद्वान् के लिए विद्या का भण्डार खुला पड़ा है वहीं दूसरे आदमी के लिए गंदे जीव-जन्तुओं के सिवा कुछ है ही नहीं। यह संसार एक गुम्बज की तरह है। मीठे वचन बोलनेवालों के लिए कोई कटुभाषी ही

नहीं। यदि चाहते हो कि दूसरे तुमसे सद्व्यवहार करें तो पहले स्वयं इसका अभ्यास करो। दया करो, तुम पर दया होगी यह। प्रकृति का अटल नियम है।

मानवी दुःख

मनुष्य जब बीमार पड़ते हैं तब प्रायः परमात्मा को ही दोषी ठहराया करते हैं। उस समय वे नीतिकारों के इस वाक्य को भूल जाते हैं—

रोग-शोक-परीताप बन्धन-व्यसनानि च।

आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्।

हम समझने में समर्थ हों या नहीं पर रोग शोक आदि जितने भी दुःख के कारण हैं ये सब हमारे ही अपराधों के फल हैं, दैव का कोप कदापि नहीं। जगत्पिता ने इस संसार को ऐसा नियमबद्ध किया है कि यदि हम उचित कर्म करते चले जायँ तो कोई शक्ति नहीं जो हमें दुःख पहुँचा सके। विद्वान् चिकित्सक एक मत हो कर दावा कर रहे हैं कि मनुष्यजाति जितनी बीमारियों से कष्ट उठा रही है उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जो प्रयत्न से रोकी जा सकती हैं। सभ्य और असभ्य देशों का इतिहास भी इसी कथन की पुष्टि करता है।

हमारा देश यदि आज दरिद्रता से पीड़ित है तो क्या यह दुःख असाध्य है? क्या इसका कोई इलाज ही नहीं? परमेश्वर ने हमें हाथ दिये, पाँव दिये, इनको हिलाएँ, बुद्धि है इसको काम में लाएँ। उद्योग करें तो क्योंकर भूखे रह सकते हैं। हाँ हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने से और "हा दैव! हा दरिद्रता" ऐसा निरन्तर चिल्लाने और मुँह फाड़ फाड़ रोने

से कुछ न मिलेगा। बिना यत्न किये शेर भी अपना आहार नहीं पाता।

हम में से बहुतों को अपने प्यारों का वियोग सता रहा है, परन्तु यह हमारी अल्पज्ञता के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं करता। परमपिता का इसमें कोई गूढ़ अभिप्राय तथा अभीष्ट अवश्य है जिसको हम समझने में असमर्थ हैं।

फिर बहुतेरे दुःख हमारी ही कल्पना से उत्पन्न होते हैं। रस्सी को साँप समझ लिया और लगे शोर मचाने 'हायरे खा लिया' ख़याली भूत प्रेतों से ही बहुतेरे प्राणी अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं। ऐसे ही अन्य कल्पित दुःख संसार में थोड़े नहीं।

दुःखों के प्रयोजन

दुःखों का एक प्रयोजन यह है कि उनके बिना हमें सुखों के आनन्द का यथार्थ अनुभव नहीं होता। सदैव मीठा खाने से उसमें स्वाद नहीं रहता। नमकीन पदार्थ मिलने चाहिएँ। अँधेरे के बिना उजाले का, सरदी के बिना गरमी का, बीमारी के बिना तन्दुरुस्ती का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ करता। बैठे बिठाये दोनों समय षट्रस भोजन करनेवाले को वह आनन्द कहाँ जो पसीना बहा कर सूखी रोटी खानेवाले को मिलता है। बस सुख की क़द्र भी वही जानता है जो दुख भुगत चुका हो।

दुःखों का दूसरा प्रयोजन यह भी है कि उनसे मनुष्य के धैर्य आदि गुणों की परीक्षा होती है, जिसमें उत्तीर्ण होने से उसकी कीर्ति संसार में अचल हो जाती। यदि मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने वनवास के कठिन कठिन दुःख न सहन

किये होते तो इसमें सन्देह ही है कि इतने सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर भी हमारे परम पूज्य बने रहते ।

क्या कारण है कि राजा हरिश्चन्द्रजी का जीवन-चरित्र हमारे हृदयपटल पर ऐसा अङ्कित हो रहा है मानों वे हमारे सम्मुख विराज रहे हैं ! बस इसी से कि वे अपनी सत्य परीक्षाओं में पूरे उतरे, धैर्य न छोड़ा । सोना मूल्यवान् तब ठहराया जाता है जब अग्नि के ताप से उसमें कोई खोट नहीं पाया जाता ।

अङ्गरेज़ों के प्रति भारतवासियों की सच्ची राजभक्ति कब प्रकट हुई ! पलासी जैसी लड़ाइयों में—जब उन्होंने दिखाया कि वे चावलों के धोवन (माँड़) पर गुज़ारा करके असली ख़ुराक गोरों को दे सकते हैं ।

हमारा कर्तव्य

आशा है कि पाठकगण इस कथन पर विचारेंगे और न्यायकारी पिता परमात्मा को कभी अन्यायी दुःख देनेवाला न कहेंगे । वह तो हमारा परम प्यारा और रक्षक है । उसने बहुत करके यह हमारे ही अधीन रक्खा है । यदि हम चाहें तो अच्छे अच्छे कर्म करते हुए सदैव ही सुख के भागी बने रहें । जब हम दुःख भुगत रहें हैं तब समझलेना होगा कि यह हमारे ही दुष्कर्मों का फल है । इस जन्म का नहीं तो पहले का है । हमें चाहिए कि सोच विचार कर अच्छे मार्ग पर चलें । कल्पित दुःख को कभी पास न फटकने दें । यदि कोई आपत्ति आवे भी तो धैर्य का त्याग न कर बैठें । वह हमारे कल्याण के ही लिए होगी । रात अँधेरी है तो क्या परवाह, परिमित समय के पश्चात्

इसका भी अन्त होगा। अब आराम कर चुकने पर प्रातःकाल हम द्विगुण साहस से काम लेंगे।

जीवन-यात्रा

यात्रा सब को करनी होती है

ब्रह्माण्ड के सब पदार्थ चलायमान हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा, नक्षत्र, पृथ्वी, इत्यादि सब किसी न किसी प्रकार की यात्रा कर रहे हैं। जिनको हमने स्थिर माना है वे भी केवल किसी ख़ास हद्द तक ही स्थिर हैं। उदाहरण वत् रेल, घोड़ा, गाड़ी आदि की रफ़तार के हिसाब में हम पृथ्वी को स्थिर मान लेते हैं। परन्तु जानते हैं कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। इसी प्रकार पृथ्वी की चाल का हिसाब लगाते समय हम सूर्य को स्थिर समझ लेते हैं परन्तु स्मरण रखते हैं कि उच्च गणित करने के समय इस सूर्य को अन्य सूर्यों के गिर्द घूमते हुए मानना पड़ेगा। निदान नितान्त स्थिर रहना, प्रकृति के विरुद्ध है। सबको किसी न किसी के (बहुतेरों को अपनी ही) परिक्रमा करनी पड़ती है। कोई पूर्व की ओर जाता है, कोई पश्चिम को चलता है, कोई दक्षिण को दौड़ता है, तो कोई उत्तर को सरकता है, कुछ आगे बढ़ते हैं तो दूसरे पीछे को ही हटते हैं।

हमारी दुनियाँ

हमारी दुनियाँ भी उक्त सर्वव्यापी यात्रा के नियम में कोई अपवाद नहीं है, अर्थात् इसके भी, जड़ हो चाहे चेतन, समस्त पदार्थ गतिशील हैं। जिन पर्वतों को हमने 'अचल' की संज्ञा प्रदान की है (जैसे हिमांचल, विन्ध्याचल, अस्ताचल आदि)

वे बेचारे कैसे अचल रह सकते हैं, जब उनका आधार पृथ्वी हो, जिसपर कि वे टिके हुए हैं, दिनरात आठ पहर चौसठ घड़ी अपने गिर्द तथा सूर्य के चहुँ ओर बड़े वेग से दौरा लगाती रहती है। पृथ्वी की परिक्रमा का यह क्रम संसारहित के लिए आवश्यक ही है, क्योंकि इसके गतिस्तम्भन के साथ प्रलय का योग लगा हुआ है। वैज्ञानिक लोग बतलाते हैं कि पृथ्वी की रफ़्तार फ़ी सैकिंड उन्नीस मील के लगभग है और यदि यह चाल एक दो क्षण के लिए भी रुक जावे तो अत्यंन्त गर्मी पैदा होने के कारण भूतल के समस्त पदार्थ एक दम भस्मीभूत हो जावें।

मनुष्य

हमारी दुनियाँ में हम भी आ गये। मनुष्य भी अपने पड़ोसी यात्रियों में से एक है। वह कोरा दर्शक अर्थात् तमाशा देखने वाला नहीं रह सकता। उसे कर्म करना पड़ता है, खरा नहीं तो खोटा, पुण्य करना नहीं चाहता तो पाप का भार साथ बाँधता है। मतलब यह कि कर्मक्षेत्र से उसे छुटकारा नहीं। और "भेड़ जहाँ जायगी वहीं मुँड़ेगी" उक्ति के अनुसार यदि वह एक जगह से भाग जाय तो दूसरे स्थान में पकड़ा जायगा। यदि वह समझे कि मृत्यु के आवाहन से काम बन जायगा और मनोवांछित विश्राम मिलेगा तो यह उसकी भूल है, भ्रम है, और मूर्खता है। बहुत हुआ तो ऐसी मृत्यु केवल रात्रि की भाँति थोड़ा सा विश्राम दे सकती है, कर्मबन्धन से मोक्ष कदापि नहीं। प्रभात होगा और हमारे सिर पर दूसरी मंजिल की चिन्ता सवार हो जायगी और संभव है, अगली मंजिल इससे अधिक कठिन हो।

अनुष्य और अन्य प्राणियें की यात्राओं में भेद

अब यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य कर्मक्षेत्र से बचना चाहे उसके लिए इस संसार में, नहीं नहीं ब्रह्माण्ड भर में, स्थान नहीं। यात्रा उसे करनी ही पड़ेगी। अब प्रश्न यह है कि उस की यात्रा में और अन्य पदार्थों की यात्रा में कुछ विशेषता है या नहीं। अवश्य ही मनुष्य कर्मयोनि का जीव है और भोगयोनि के प्राणियें की श्रेणी से इसमें भेद होना चाहिए, हम देखते हैं कि और प्राणियें से बढ़ कर परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की है जिससे वह अपना भला बुरा सोच सकता है और अपने इच्छानुसार कार्य कर सकता है।

यात्रा का विचार

साधारणतया हम देखते हैं कि जब किसी आदमी को छोटा सा भी सफ़र करना होता है तब वह नाना प्रकार के विचार किया करता है। उसे कहाँ पहुँचना है, मार्ग कैसा है, सामान भी काफ़ी है या नहीं, कैसी कैसी बाधाओं की सम्भावना है, क्या क्या बातें उसे सहायक होंगी इत्यादि।

निदान वह मामूली सी यात्रा के लिए अपनी शक्ति भर तय्यारी करने के लिए कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ता। पाठक गण! अब तनिक शान्त चित्त से गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि जिस बड़ी जीवनयात्रा के लिए हम और आप मनसूबा बाँधे बैठे हैं उसके लिए क्या कुछ तय्यारी न करनी चाहिए?

यात्रा की तय्यारी और स्वार्थ

यात्रा की तय्यारी की आवश्यकता है, यही नहीं, वरन् हम कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी शक्ति के अनुसार

तय्यारी करता ही है। कहीं जाओ, कहीं बैठो, सब जगह इस यात्रा की तय्यारी ही दृष्टिगोचर होती है। विद्यार्थी दिन रात पुस्तक के पीछे क्यों पड़ा हुआ है? पत्थर फोड़नेवाला अपने हाथों को क्यों कष्ट दे रहा है? और निर्धन भारतीय किसान ज्येष्ठ आषाढ़ की कड़ी धूप में क्यों अपना पसीना बहा रहा है? इन सब प्रश्नों का एकही उत्तर है, कि वे अपने भविष्यजीवन की यात्रा को सुगम करने के लिए वर्तमान काल में अनेक कष्ट उठाना उचित ही समझते हैं।

अधम स्वार्थ

प्रश्न होगा कि एक आदमी चोरी या डाके का काम क्यों करता है, जिसके फलस्वरूप उसे न केवल सरकारी दंड ही मिलता है वरन् उसका आत्मा भी उसे मानसिक व्यथा देता रहता है, अथवा एक शराबी नशे में चूर होकर अपना अहित क्यों करता है, या एक विषयी पुरुष भोगों से लिप्त होकर अपने समस्त जीवन को क्यों कष्टमय बना लेता है। क्या इन लोगों के कार्य भी स्वार्थ की प्रेरणा से हुए हैं? निस्सन्देह यह मानना पड़ेगा कि चाहे इनकी तर्कना अशुद्ध हो, समझ में त्रुटि हो, दृष्टि अदूरदर्शी हो, उन्होंने अपने उक्त कामों में अपने हित-साधन का विचार अवश्य ही रक्खा है। यदि किसी सज्जन महाशय की सत्संगति या सदुपदेश से इनके हृदयपटल पर यह बात भलीभाँति अंकित हो जाती कि इन कामों से अन्ततः उनका हितसाधन नहीं होगा तो ये इनमें लिप्त न होते। बस, वे अपने वर्तमान कार्य इसीलिए कर रहे हैं कि उन्हें अपनी अल्पज्ञता के कारण इनमें स्वार्थसाधन की भावना प्रकट होती है। परन्तु इतर अनुभवी और अभिज्ञ जन, इन कामों को

पापमय, नीच और अधर्म के विशेषण देते हैं और इनसे बचते रहते हैं।

परमार्थ

दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि एक धर्माचार्य्य क्यों उन शत्रुओं के बीच डट कर अपना संदेशा सुनाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है; जहाँ केवल उसका अपशब्दों से ही नहीं वरन ईंट और पत्थरों से स्वागत किया जाता है, वहाँ तो उसे कुछ लाभ न होगा। गौतमबुद्ध सरीखा एक धनवान व्यक्ति क्यों राज गृह का सुख छोड़, त्यागी, वैरागी बन घर घर की धूल फाँकता फिरता है? एक लेखक क्यों ऐसा साहित्य तय्यार करता है जिसके लिए उसे यथेष्ट पुरस्कार का मिलना तो अलग, समय समय पर अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है? क्या ये लोग भी अपनी यात्रा के लिए तय्यार हुए हैं? अवश्य ही मोटी दृष्टि से उक्त प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहने से संकोच होता है। संसार इनको स्वार्थी की उपाधि न देकर 'परमार्थी' अलंकार से भूषित करता है।

परमार्थ में स्वार्थ

परन्तु हम पूछते हैं कि परमार्थ असल में है क्या चीज़? क्या वह केवल एक प्रकार का—हाँ उच्च श्रेणी का—स्वार्थ ही नहीं है? आप आपत्ति करेंगे कि परमार्थ और स्वार्थ में क्या सम्बन्ध? सुनिए, हमारे जिस काम को दुनियाँ परमार्थ की संज्ञा देती है क्या उसके करने में हमारे मन को आनन्द और आत्मा को सन्तोष प्राप्त नहीं होता? अवश्य होता है। तभी तो हम अनेक विघ्नों को सहते हुए भी उसके करने पर उतारू रहते हैं। इसका एक दृष्टान्त लीजिए।

कोई साधु एक गृहस्थ के साथ घूमता घूमता एक तालाब के किनारे पर आ पहुँचा। वहाँ देखता है कि एक सूअर कीचड़ में धँसा हुआ है और उससे निकलने में असमर्थ है। साधु बड़े आवेश में आकर तालाब के भीतर चल दिया और उस व्याकुल सुअर को बाहर निकाल लाया। तब गृहस्थ को बड़ा अचरज हुआ कि एक महात्मा साधु ने एक सूअर जैसे पतित (?) पशु के लिए इतना कष्ट क्यों उठाया? पूछे जाने पर साधु ने उत्तर दिया, महाशय! इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इस प्राणि की दशा देखकर मुझे हार्दिक व्यथा हुई और उस अपनी व्यथा को दूर करने के लिए ही मैंने इसे कीचड़ से बाहर निकाला है, अब मुझे चैन पड़ गया और मेरी जान में जान आगई।"

सारांश

संसार का प्रत्येक व्यक्ति जो भी कार्य्य कर रहा है, उसमें स्वार्थभाव अवश्य है। फिर वह स्वार्थ चाहे उच्च श्रेणी का हो या साधारण या चाहे अधम ही श्रेणी का हो। हमें अपनी जीवनयात्रा में मुख्य लक्ष्य इसी बात की ओर रखना चाहिए कि हमारे स्वार्थ उच्च श्रेणी के रहें। परमार्थ में ही हम अपना स्वार्थ समझें जिससे मनुष्ययोनि में यथार्थ (उत्तम कोटि के) मनुष्य और परब्रह्म परमात्मा की सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाने के पूर्णतया अधिकारी बनें।

इति

परिशिष्ट

(क)

भारतवर्ष का क्षेत्रफल व जन-संख्या

सरकारी प्रान्त

	क्षेत्रफल वर्गमील में	जन-संख्या
१ अजमेर-मेरवाड़ा ...	२,७११	५,०१,३९५
२ अंडमान निकोबार	३,१४३	२६,४५९
३ आसाम ...	८३,०१५	६३,१३,६३५
४ कुर्ग	१,६८२	१,७४,९७६
५ पंजाब (देहली सहित)	९९,७७९	१,९९,७४,९५६
६ पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त	१३,४१८	२१,९६,९३३
७ बिहार-उड़ीसा ...	८३,१८१	३,४४,९०,०८४
८ बंगाल	७८,६९९	४,५४,८३,०७७
९ बम्बई	१,२३,०५७	१,९६,७२,६४२
१० बर्मा	२,३०,८३९	१,२१,१५,२१७
११ बिलोचिस्तान ...	५४,२२८	४,१४,४१२
१२ मद्रास	१,४२,२३०	४,१४,०५,४०४
१३ मध्य प्रान्त व बरार ...	९९,८२३	१,३९,१६,३०८
१४ संयुक्त प्रान्त ...	१,०७,२६७	४,७१,८२,०४४
समस्त अङ्गरेज़ी भारत	१०,९३,०७४	२४,४२,६७,५४२

देशी रियासतें तथा एजंसिएं

	क्षेत्रफल वर्गमील में	जन-संख्या
१ आसाम रियासत (मनीपुर)	८,४५६	३,४६,२२२
२ कश्मीर ...	८४,४३२	३१,५८,१२६
३ पंजाब रियासतें ...	३६,५७१	४२,१२,७६४
४ पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (एजंसी आदि) ...	२५,५००	१६,२२,०६४
५ बिलोचिस्तान रियासतें	८०,४१०	४,२०,२६१
६ बिहार-उड़ीसा ...	२८,६४८	३९,४५,२०९
७ बंगाल	५,३९३	८,२२,५६५
८ बड़ौदा... ...	८,१८२	२०,३२,७९८
९ बम्बई रियासतें ...	६३,८६४	७४,११,६७५
१० मद्रास (ट्रावनकोर व कोचीन सहित) ...	१०,०८४	४८,११,८४१
११ मध्य भारत एजंसी ...	७७,३६७	९३,५६,९८०
१२ मध्य प्रान्त रियासतें...	३१,१७४	२१,१७,००२
१३ मैसूर	२९,४७५	५८,०६,१९३
१४ राजपुताना एजंसी ...	१,२८,९८७	१,०५,३०,४३२
१५ सिक्कम ...	२,८१८	२७,९२०

१६ संयुक्त प्रान्त रियासतें (बनारस सहित) ...	५,०७१	८,३२०३६
१७ हैदराबाद ...	८२,६९८	१,३३,७४,६७४
समस्त देशी रियासतें	७,०१,११८	७,०८,८८,८५४
समस्त भारतवर्ष का योगफल	१८,०२,१९२	३१,५१,५६,३९६

(ख)

भारतीय जनता के उद्योग धन्धे

क—कच्चे पदार्थों की पैदावार	२२,७०,३०,०९२
(१) खेती, उद्यान, पशुपालन, मछली पकड़ना या शिकार	२२,६५,५०,४८३
(२) खनिज द्रव्यों को निकालना ...	५,२६,६०९
ख—भौतिक पदार्थों को तैयार करना	५,८१,९१,१२१
(३) दस्तकारी–कपड़े बुनना, धात, चमड़े, लकड़ी का काम, सामान, व मकानात बनाना	३,५३,२३,०४१
(४) माल लेजाना—जल और स्थल के मार्ग या रेल के रास्ते अथवा तार, डाक और टेलीफ़ोन की नौकरिएं...	५०,२८,९००

(५) व्यापार—महाजनी, दलाली, कपड़े, खाल, चमड़े, धातु, लकड़ी, आदि के पदार्थों का क्रय विक्रय ...	१,७८,३६,१०२
ग—शासन और लिखाई पढ़ाई आदि Liberal Arts	
(६) फ़ौज और पुलिस	२३,६८,५८६
(७) राज्य प्रबन्ध	२६,४८,००५
(८) कानून, औषधालय, संगीतादि ...	५३,२५,३५७
(९) अपनी सूद, किराये आदि की आमदनी पर निर्वाह करनेवाले ...	५,४०,१७५
घ—विविध ...	१,७२,८६,३७८
(१०) घरेलू नौकर चाकर	४५,६६,०८०
(११) जिनके धंधों का ठीक ठीक पता नहीं चला	६२,३६,२१०
(१२) अनुत्पादक—जेलों और शफाखानों में पड़े हुए, तथा भिक्षुक और वेश्यादि ...	३४,५१,३८१
कुल योगफल* ...	३१,३४,७०,०१४

*पिछले परिशिष्ट में हमने भारतवर्ष की कुल जन-संख्या साढ़े इकतीस कोटि से कुछ अधिक दिखलाई है; परन्तु ऊपर का हिसाब तथा आगे दिया हुआ भारतीय जनता के धर्म और शिक्षा का हिसाब हमें उससे कुछ कम संख्या का ही मिल सका है।

भारतीय जनता के धर्म और शिक्षा

धर्म	जन-संख्या		शिक्षित	
	मर्द	औरत	मर्द	औरत
सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, और ब्रह्म समाजी	११,०८,९५,७३१	१०,६७,२०,७१४	१,१२,२३,१३४	८,१४,११०
सिख	१७,३४,७७३	१२,७९,६६७	१,८४,१६३	१७,२८०
जैन	६,४३,५५३	६,०४,६२९	३,१ [illegible],५८५	२४,१२०
बौद्ध	५२,८६,१४२	५४,३५,०८६	२१,३४, [illegible]८१	३,१७,३३८
कुल हिन्दू*	११,८५,३०,१९९	११,४०,४०,०९६	१,३८,६०,२६३	११,७३,५४८
मुसलमान	३,४१,०९,३६५	३,१८,८३,८१२	२३,९९,७६६	१,३७,८०७
ईसाई	२०,१०,७२४	१८,६५,४७२	५,८८,५६०	२,५२,२९५
पार्सी	५१,१२३	४८,९७३	३९,९९५	३१,२१८
अनार्य आदि Animistic	५०,८८,२४१	५१,२९,२०३	५३,८३३	२,९८७
अन्य	२८,८१८	२९,२६३	६,३८८	२,९०८
योग	१६,०४,१८,४७० + १५२९,९६,९१९ = ३१,३४,१५,३८		१,६९,३८,८१५ + १६००,७६३ = १,८५,३९,५७८ = ६ फी सैकड़े से कम	

*जो पाठक चाहें, वे सिख, जैन, बौद्ध धर्मावलम्बी पुरुषों की [illegible] को हिन्दुओं से अलग करके पढ़ सकते हैं।

भ्रम निवारक पत्र

यथा शक्य सावधानी वर्तने पर में मनुष्य कृत कार्य्यों में त्रुटि रह जाना सर्वथा सम्भव है। इस पुस्तक में प्रेस की साधारण त्रुटियों को विद्वान पाठक (स्वयं सुधार कर पढ़ सकते हैं। अतः नीचे दो एक खास २ बातों का ही उल्लेख किया जाता है।

पुस्तक के सोलहवें पृष्ट की आठवीं पंक्ति के आरम्भ में 'न' शब्द छपने से रह गया।

चवालीसवें पृष्ट के प्रसंग में विदित हो कि सरकार ने स्कूल- लीविंग क्लास के तथा नार्मल स्कूलों के विद्यार्थियों के लिये भारतीय शासन विषयक शिक्षा की व्यवस्था करदी है।

बावनवें पृष्ट में अंतिम नोट की आवश्यकता न थी।

इकसठवें पृष्ट की प्रथम पंक्ति मे' गत वर्ष' के स्थान ४ सन् १९१६ ई० चाहिये।

तेरसठवें में उन्नीसवीं पंक्ति के आगे यह पंक्ति छपने से रह गई, "तो अर्बी फारसी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करते थे।"

नोट—दूसरे संस्करण में भारतीय शासन का मूल्य बारह आने रहेगा।

समर्पण

—:o:—

जय माता को

—

भारतीय विद्यार्थियों के विनोदार्थ रची हुई भारतीय ग्रन्थमाला की यह दूसरी पुस्तक समस्त विद्या प्रेमी भारत सन्तान को सप्रेम समर्पित की जाती है।

—ग्रन्थकर्त्ता



हमारे देश की प्राचीन उन्नति

(लेखक—देश सेवा अभिलाषी, श्री तेजूमल मुरली धर जी कनल)

संक्षिप्त विषय सूचि

(१) प्राचीन उन्नति के मूल कारण ।

(२) उन्नति के समय के नियम ।

(३) उन्नति के समय की विद्या ।

(४) प्राचीन राजधर्म तथा राजव्यवस्था ।

(५) वर्तमान (पश्चिमी) उन्नति, प्राचीन उन्नति से शिक्षा, भजन इत्यादि मू० ॥)

मिलने का पता—

भगवानदास केला,

अलीगढ़ ।

लेखक द्वारा रचित

भारतीय ग्रन्थमाला की पुस्तकें।

प्रथम पुस्तक

भारतीय शासन मूल्य ॥।)

विषय सूची

(१) उपोद्घात, (२) होम गवर्नमेंट या विलायत सरकार, (३) भारत सरकार, (४) प्रान्तिक सरकार, (५) ज़िले का शासन, (६) व्यवस्थापक सभा, (७) स्थानीय स्वराज्य, (८) सरकारी आय-व्यय, (९) देशी रियासतें, (१०) फौज और पुलिस, (११) न्याय विभाग तथा जेल, (१२) शिक्षाप्रचार, (१३) स्वास्थ्य रक्षा, (१४) सार्वजनिक कार्य, (१५) भारतीय शासन सुधार—सरकारी प्रस्ताव (१६) सरकारी प्रस्तावों पर भारतीय लोक मत।

परिशिष्ट

(क) प्रधान कर्मचारियों का वेतन, (ख) भारतवर्ष में स्वाधीन राज्य (ग) वैदेशिक राज्य, (घ) धर्म और शिक्षा, (ङ) उद्योग धन्धे।

इस पुस्तक का दूसरा संस्करण शीघ्र तैयार होने वाला है। पहिले से ग्राहकों में नाम लिखाने वाले महाशयों से डाक महसूल माफ।

कुछ सम्मतियां

सरस्वती—बड़ी अच्छी पुस्तक है, सामयिक है, शासन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का स्थूल ज्ञान प्राप्त करने के लिए आइने का काम देनेवाली है। अच्छी छपी है।

भारतीय शासन और भारतीय विद्यार्थी विनोद They have been sanctioned for the school libraries.

Viddy adhakari
Baroda state

(भारतीय शासन) has been sanctioned for use as library books in the Normal schools of the Central Provinces & Bearar.

(Sd) J. C. Evans for
Director of Public Instruction
Central Provinces.

चाँद—यह पुस्तक सर्वसाधारण और विशेष कर विद्यार्थियों, पत्रसम्पादकों और पाठकों के बड़े काम की है। इस अत्युपयोगी और अपेक्षित पुस्तक लिखने के लिए लेखक महाशय को बधाई। हम आशा करते हैं कि प्रत्येक देशभक्त हिन्दीप्रेमी इस पुस्तक को अपनावेगा।

Moderr Review.—This is a nice handbook on the constitution of the Indian Government and the writer has given all that is repuired on the subject.

द्वितीय पुस्तक

भारतीय विद्यार्थीविनोद—मूल्य ।=)

विषय सूची

प्रथम खंड—हमारे पाठ्य विषय।

(१) भाषा, (२) गणित, (३) विज्ञान, (४) भूगोल, (५) इतिहास, (६) सम्पत्ति शास्त्र, (७) नीति, (८) तर्क-शास्त्र।

द्वितीय खंड—विचारणीय विषय।

(१) भारतवर्ष में राष्ट्र-भाषा का प्रश्न (२) मातृ-भाषा से प्रेम, (३) हमारी मातृ-भाषा, (४) हमारी आदर्शें, (५) आत्मोन्नति, (६) आज कल के पाहुने, (७) मानवी सुख दुख पर एक दृष्टि, (८) जीवनयात्रा।

कुछ सम्मतियां

सम्मेलन पत्रिका—पुस्तक नये ढंग और योरोपीय उदाहरणों से विभूषित उत्तेजना कारक है। ऐसी ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता भी है।

ब्राह्मण सर्वस्व—अनेक उपयोगी विषयों पर अनेक प्रकार के विचारपूर्ण मत इसमें दिखाये गये हैं।

शारदा—पुस्तकेनानेन विद्यार्थीनामुपयोगो भविष्यतीति निश्चीयते।

Modern Review.—The views of the another are sound...The langua_ge & get up are good.

भारतीय विद्यार्थी विनोद—has been sanctioned for use as a prize & library book in Vernacular, Anglo Vernacular Middle, High & Normal Schools of the Central Provinces & Berar.

(Sd) J. C. Evans

for Director of Public Instruction

Central Provinces.

तीसरी पुस्तक

भारतीत राष्ट्र निम्मर्माण मूल्य ॥≈)

विषय सूची

कुछ सम्मतियां

विद्यार्थी–समय को देखते हुए बड़े काम की पुस्तक है। भारतीय राष्ट्र के निम्मर्माण के सम्बध में इस में जो लिखा गया है; वह बहुत उत्तम है और ध्यान से लिखा गया है। पुस्तक प्रत्येक देशभक्त को पढ़नी चाहिये और इसकी बातों पर अकल करना चाहिये ।

श्रीवेंकटेश्वर—पुस्तक उपयोगी है; भारत में राष्ट्रीय जीवन के संगठन से सम्बन्ध रखने वाली बातों का इसमें विवेचन किया गया है।

ललिता—प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय राष्ट्र निर्म्माण सम्बंधी बातों पर बहुत ही योग्यता तथा स्वतंत्रता से विचार किया गया है। निब -- लेखक की विशेष विचारशीलता का परिचय देते हैं। स्वदेश प्रेम शीर्षक निबन्ध के प्रत्येक शब्द से देश प्रेम टपका पड़ता है। पुस्तक की भाषा सरस है।

माहेश्वरी ग्रन्थमाला

भारतवर्ष की योग्यता की घोषणा करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक-भारत सन्तान अपने अपने क्षेत्र की योग्यता की वृद्धि करते हुए उसे प्रसिद्ध भी करता जावे। माहेश्वरी समाज का यह परम कर्त्तव्य है कि अपने महापुरुषों का जीवन-चरित्र तथा जागृति की लहर का परिचय देनेवाले साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार में कटिबद्ध हो। अपनी शक्ति अनुसार हमने इस कार्य को आरम्भ करने का निश्चय किया है। आशा है कि हृद जातिहितैषी इस शुभ कार्य में हमारे पूर्ण सहायक होंगे।

इस ग्रन्थमाला की पहिली पुस्तकें ये होंगी—

(१) स्वर्गीय श्री० सेठ **दामोदरदास जी राठी** (कृष्णा मिल, ब्यावर) का जीवनचरित्र। ये महाशय न केवल माहेश्वरी जाति के एक रत्न ही थे, वरन् मारवाड़ी (व्यापारी समुदाय) में अत्यन्त सुप्रतिष्ठित, हिन्दू समाज के सच्चे शुभ-चिन्तक और भारत-माता के निष्काम प्रिय भक्त भी थे। इनका कर्मयोगी जीवन पाठकों के लिए बहुत ही शिक्षाप्रद होगा।

पुस्तक की एक विशेषता यह होगी कि लेखक को अपने चरित्र नायक का स्नेही सेवक मित्र रह चुकने का सौभाग्य प्राप्त है और वह उनका जातिबन्धु है। पुस्तक में श्री राठी जी सम्बन्धी आवश्यक फोटो भी रहेंगे।

(२) **माहेश्वरी प्रबोध**—इस पुस्तक में माहेश्वरी जाति की जागृति का परिचय होगा। माहेश्वरी सभाएं क्या कर रही हैं? माहेश्वरी पत्र का आन्दोलन क्या है? माहेश्वरी विद्यार्थी आश्रम की कितनी आवश्यकता है? इस प्रकार के निबन्धों का इस पुस्तक में समावेश होगा। जिन पाठकों ने माहेश्वरी पत्र में लेखक के आलोचनात्मक लेख देखे हैं, वे इसका महत्व समझ सकते हैं।

(३) **माहेश्वरी जीवन**। इसमे १५-२० ऐसे माहेश्वरी सज्जनों के संक्षिप्त जीवन चरित्र होंगे जिन्होंने विविध सद्गुणों और सुकर्मों से अपना मनुष्य जीवन सफल किया है। उत्तम लेखकों की लेखन शैली तथा उपयोगी संस्था स्थापकों की संस्थाओं का परिचय दिया जावेगा। यथा शक्य चरित्रनायकों के फोटो का भी समावेश होगा। आशा है इस साहित्य के विवेचन से दूसरे जीवन पथिक अपनी यात्रा सुगम तथा परोपकारी बनाने की शिक्षा लेंगे।

भगवान दास केला—
माहेश्वरी,
अलीगढ़।

इस पुस्तक के मिलने के पते—

(१) भगवान दास केला, माहेश्वरी, अलीगढ़।

(२) मैनेजर, विद्यार्थी कार्य्यालय, हिन्दी प्रेस, प्रयाग।

(२) मैनेजर, ललिता कार्य्यालय, सेवा सदन, मेरठ शहर।

(४) जयदेव ब्रादर्स, प्रकाशक, करेलीबाग़, बड़ोदा।

(५) जनरल ब्यूरो कम्पनी इलाहाबाद।